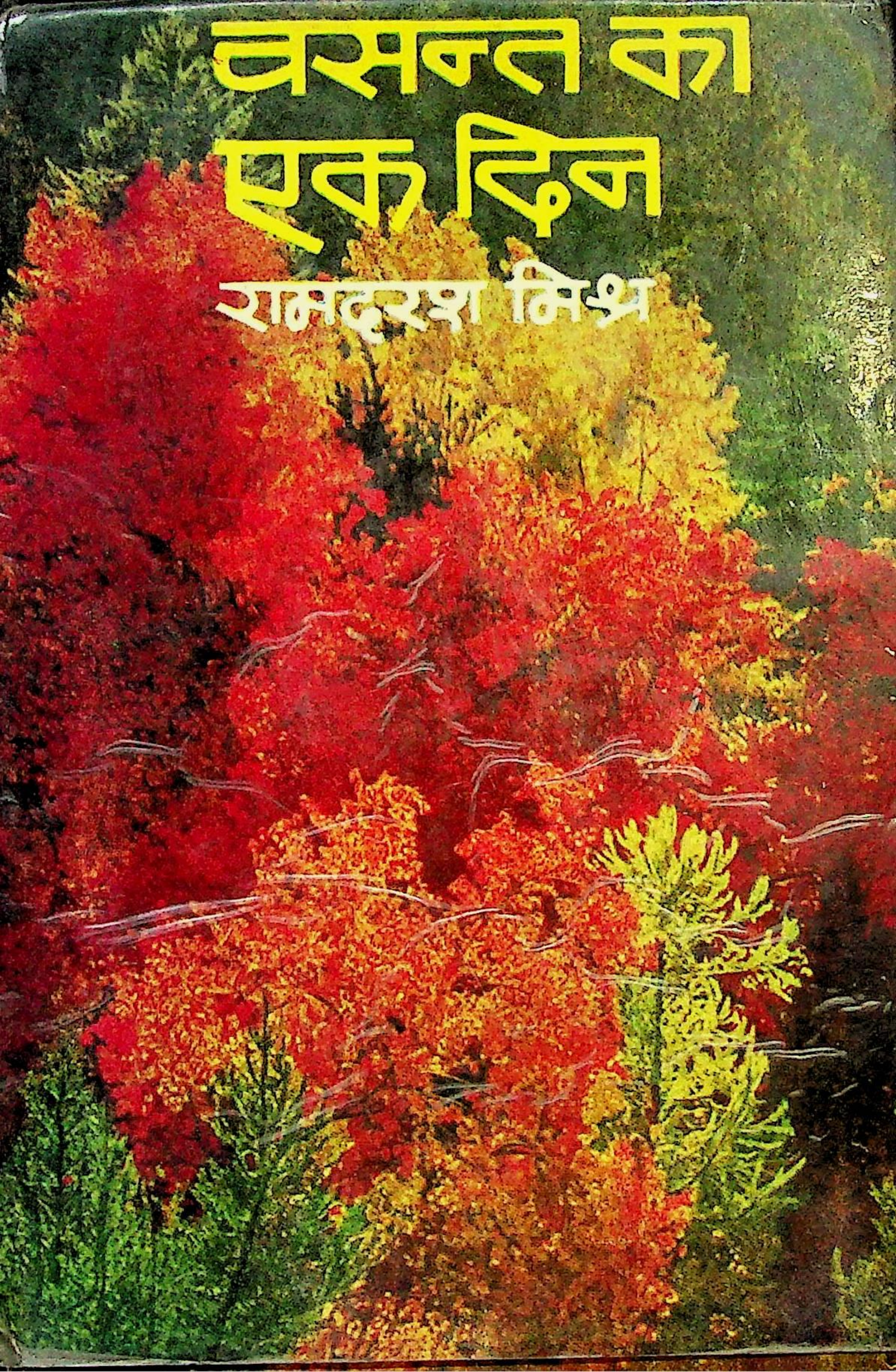
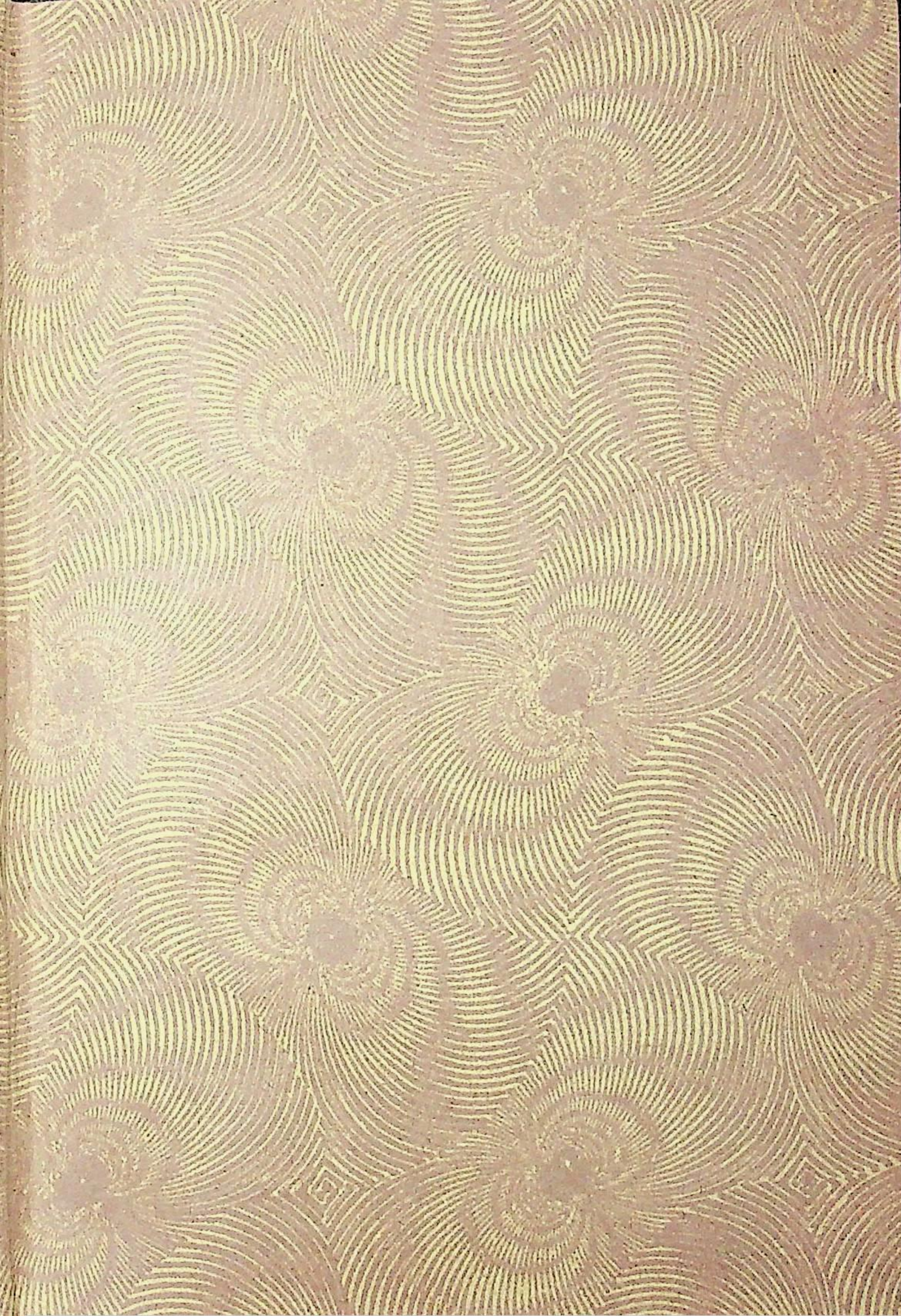
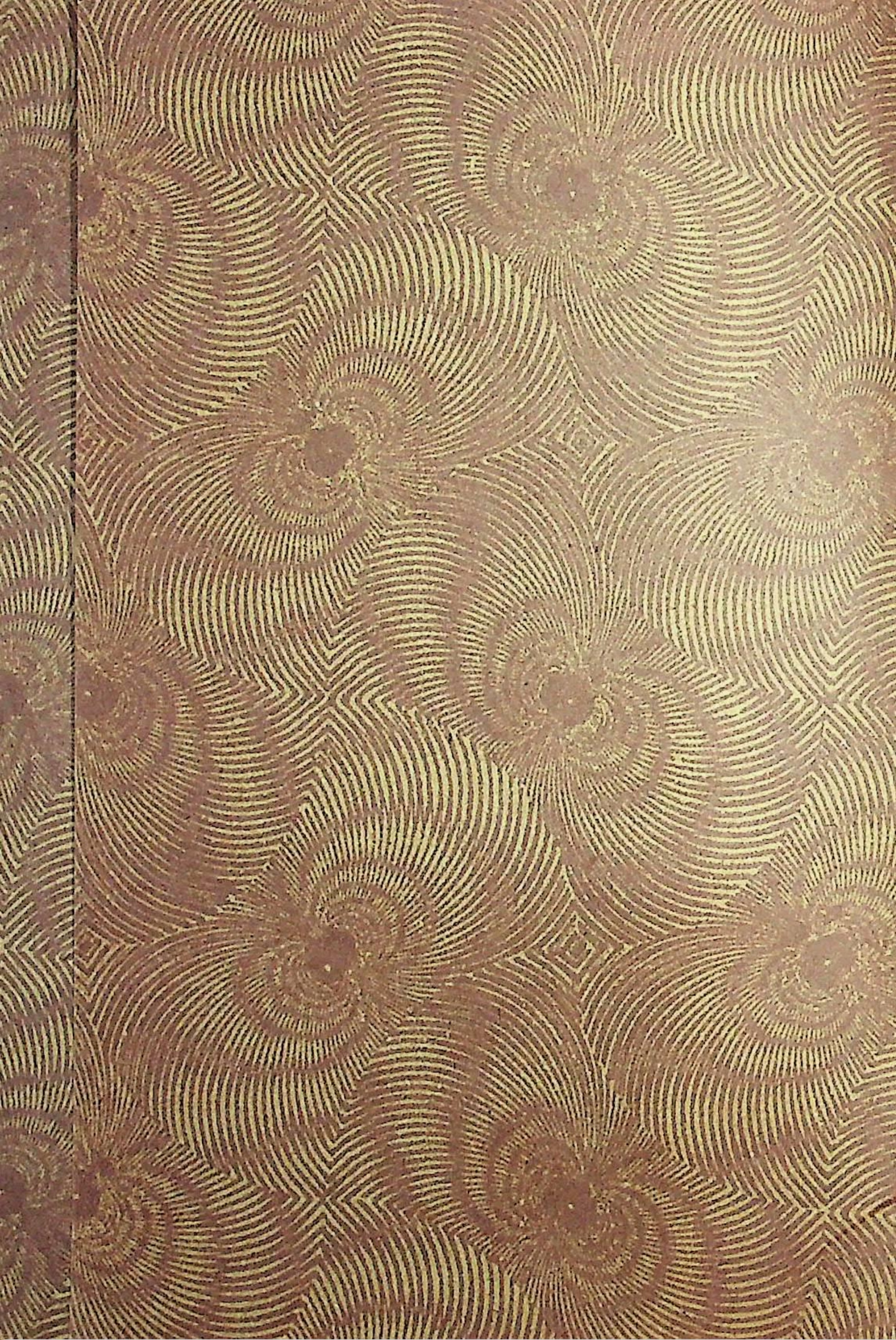

वसन्त का
एक दिन
रामदरश मिश्र

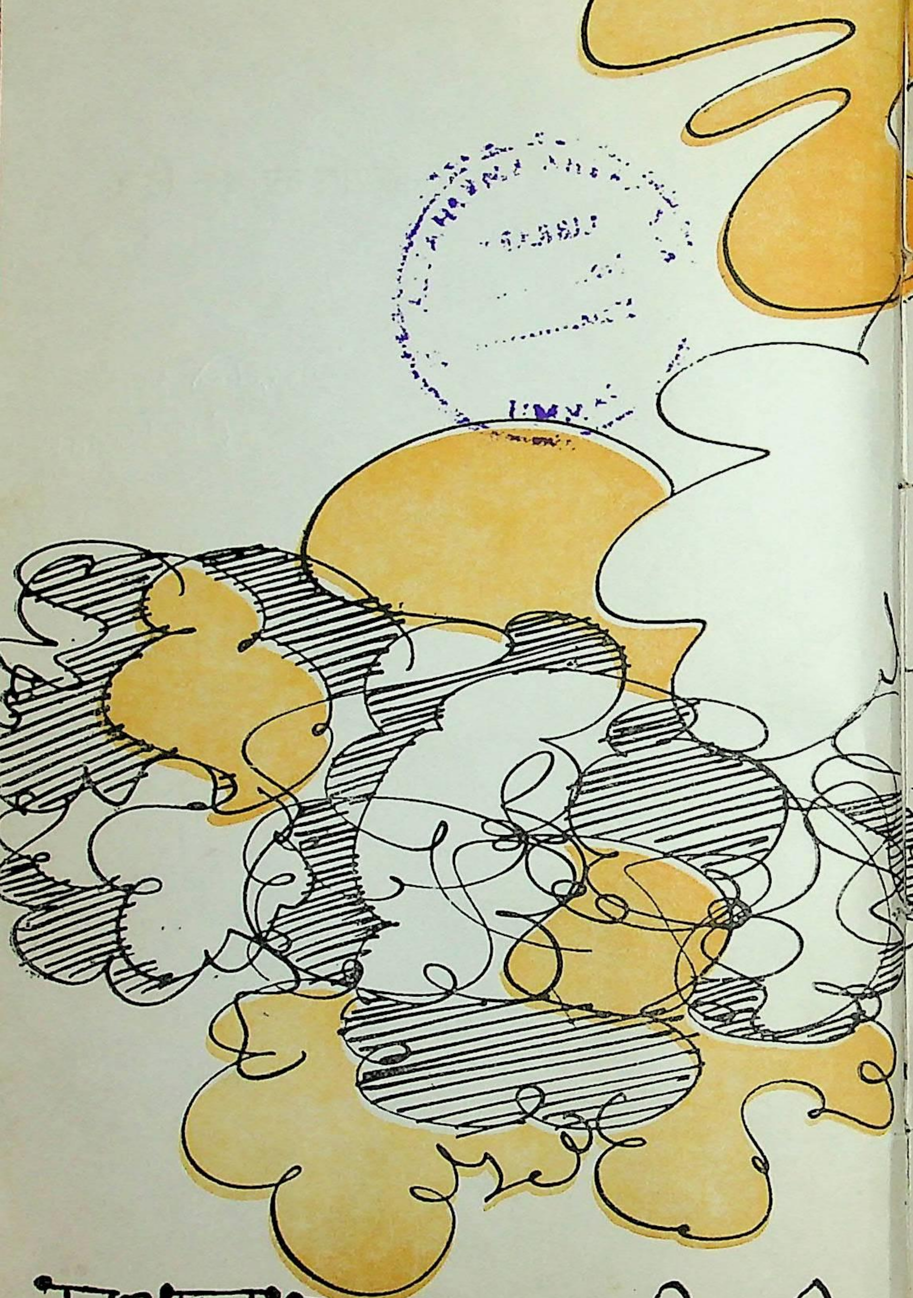






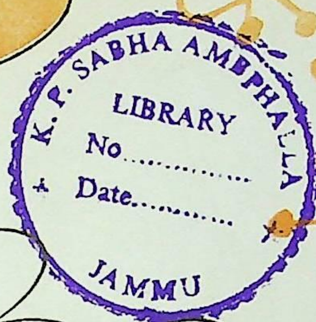
वसंत का एक दिन

Donated by
R L Shaw



प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

वसन्त का एक दिन



रामदरश मिश्र

प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६ / प्रथम संस्करण : १९८२ / मूल्य : पच्चीस रुपये / मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली-३२

VASANT KA EK DIN *(Stories) by* Ramdarsh Mishra Rs. 25.00

डॉ० विवेकीराय को

क्रम

एक अधूरी कहानी

और जब मैं लौटा तो झोंपड़ी में भउजी नहीं थीं। कहां चली गयीं ? शायद यहीं कहीं होंगी, आती होंगी ! किंतु जब दस-पंद्रह मिनट बीत गए तो निश्चित हो गया कि वे चली गयी थीं। लगा कि एक लंबी कहानी बीच में ही टूट गयी। जिस कहानी को सुनने को मैं वर्षों से तड़प रहा था, वह संयोग से आज सुनने को मिली भी तो आधे पर ही खत्म हो गयी। कितने वर्षों की अनकही व्यथा लिये भउजी चली गयीं। उन वर्षों में उनकी जिंदगी ने क्या-क्या और जहर पिया, नारी-जीवन ने अपनी आबरू की रक्षा के लिए किन-किन पत्थरों से सिर टकराया, किन-किन घाटियों से यातना की धारा बही, यह सब जानने को शेष रह गया। लेकिन जितना कुछ जाना, क्या वह अगली कहानी को जनाने के लिए पर्याप्त नहीं है ?···

क्यों नारी की यातना में इतना रस लेना चाहते हो ? क्या शेष कहानी भी भउजी की जिंदगी के अपमान, उपेक्षा और तकलीफ की कहानी नहीं होगी ?···नहीं, मैं रस लेना नहीं चाहता, मैं इस कहानी में उन बिंदुओं की तलाश कर रहा था, जो सारी गलाजत के बीच कहीं नारी के महान प्रकाश-कणों से दीप्त होते हैं और उसकी प्रतिमा को वह चमक देते हैं, जो पुरुष के लिए दुर्लभ होती है। समाज इन बिंदुओं की उपेक्षा करता है और नारी की प्रतिमा को गंदगी से भरी एक प्रतिमा मानकर उस पर थूकता है और थूकने में ही अपने को गौरवान्वित समझने लगता है। भउजी की कहानी ने मेरे भीतर न केवल भउजी की एक नयी प्रतिमा स्थापित की है, बल्कि नारी को समझने की भी एक नयी और सही दृष्टि दी है। शायद शेष कहानी में कुछ और अमूल्य प्रकाश-कण प्राप्त होते, शायद मेरी

दृष्टि कुछ और साफ हुई होती। लेकिन अब क्या होगा? वे चली गयीं। मैं उदास-उदाससा, थका-थका-सा बिस्तर पर लेट गया और तीन-चार घंटे पहले से घटित होती हुई भउजी की कहानी मेरे सामने साकार होने लगी···

हमारे गांव का एक छोटा-सा स्टेशन है। गांव स्टेशन से आधा मील दूर पड़ता है। मैं शहर में नौकरी करता हूं, रोज सुबह ही गाड़ी से शहर जाता हूं, शाम को लौट आता हूं। यों तो यह स्टेशन सन्नाटे में डूबा ही रहता है किंतु जाड़े की शाम में तो इसे भयानक उदासी और सूनापन घेर लेता है। घंटा टनटनाता है, गाड़ी हहराती हुई आती है, इक्के-दुक्के लोग उतरते-चढ़ते हैं, गाड़ी चली जाती है, फिर पूरा परिवेश जैसे सन्नाटे का एक मोटा-सा लिहाफ ओढ़ लेता है। चुनाव के समय को छोड़कर कोई विशिष्ट पुरुष इस स्टेशन पर नहीं उतरता, कोई चहल-पहल नहीं होती। हां, विदा होती हुई बेटी की करुण ध्वनियां, परदेश जाते लोगों के परिवारों की सिसकियां अवश्य गूंजती हैं, जिनसे पास के ताल के जल-पांखियों के कैंकार मिल जाते हैं। हां, यही हमारा स्टेशन है। मैं रोज इसके सन्नाटे और ध्वनियों से गुजरता हूं।···

आज उतरा तो थकान अनुभव कर रहा था। गाड़ी में बैठने की जगह नहीं मिल पायी थी। थकान मिटाने के लिए प्लेटफार्म के एक सिरे पर पड़ी बेंच पर बैठ गया। जाड़े की शाम थी। गाड़ी चली गयी थी। सन्नाटा छा गया था। मैंने देखा, धीरे-धीरे एक डगमगाती हुई छाया मेरी ओर बढ़ी आ रही थी, उसके हाथ में एक पोटली थी। वह धीरे-धीरे आकर मेरे ही वाले बेंच पर बैठ गयी। वह रह-रहकर खांस रही थी। मैं ऊबकर उठने ही वाला था कि उसने पूछा, 'ए बाबू, रामपुर गांव यही है न?'

'हां, स्टेशन तो यही है, लेकिन गांव यहां से आधा मील दूर है।'

वह कुछ बोली नहीं। लगा, जैसे एक उसांस ली हो।

'किसके घर जाना है?' मैंने पूछा।

'घर तो किसी के नहीं जाना है, बस इस गांव ही आना था।'

मुझे विचित्र बात लगी कि घर तो किसी के नहीं जाना है, बस गांव

आना था।

'कैसे हैं इस गांव के लोग ?' उसने पूछा।

'गांव के लोग ठीक ही हैं, वैसे तो अब सारे गांवों की जो हालत हो रही है, वही इस गांव की भी हो रही है।'

वह फिर खांसने लगी। मुझे लगा कि वह धीरे-धीरे ठंडक से कांप रही है। मैंने अपना ऊनी शाल थोड़ा और कस लिया। मैं उठने को होकर भी न जाने क्यों बैठने के लिए विवश होता जा रहा था। एक अज्ञात आकर्षण इस छाया का भी मेरे भीतर उभर रहा था।

'इस गांव में एक नरेश बाबू थे। अब तो बहुत बड़े हो गए होंगे ? कैसे हैं वे ?'

'नरेश बाबू ?'

'हां, रमेश बाबू के लड़के ?'

'वे तो बहुत अच्छे हैं, और आपके सामने बैठे हैं।'

'नरेश बाबू, नरेश बाबू' कहती हुई वह मेरी ओर सरक आयी और मुझे पकड़कर रोने लगी। लगा, जैसे वह मुझे अपनी गोद में खींच रही है; मेरा माथा सूंघ रही है।

मुझे लगा, कोई चुड़ैल तो नहीं है।…

फिर वह सिसकने लगी, सिसकते-सिसकते कहा, 'इतना समय गुजर गया, तुम इतने बड़े हो गए। बाबू, तुम अपनी पड़ोसवाली सोहागी भउजी को नहीं पहचानते ? कैसे पहचानोगे, आज तक मुझे किसने पहचाना।'…

'सोहागी भउजी, सोहागी भउजी', बुदबुदाता हुआ मैं चिल्ला-सा पड़ा, 'भउजी'…अब मैंने पास के लैंप पोस्ट की नामालूम रोशनी में सोहागी भउजी का चेहरा देखा…उस चेहरे में वर्षों पहले के सोहागी भउजी के चेहरे को खोजना चाहा।

भउजी का चेहरा ऐसा संक्रांत चेहरा था जिसकी रेखाओं को एका-एक पढ़ पाना संभव नहीं था। कितने वर्षों की रेखाएं उभरी थीं। आंखों में घनीभूत उदासी भरी थी। बुढ़ापे का साया पूरे मुखमंडल पर बिछा था जिसके भीतर से असीम व्यथा की अनुभूति फूट रही थी। भउजी ने मुझे इस तरह घूरते देखकर मुस्करा दिया और उसी मुस्कान ने भउजी के

चेहरे के भीतर उनकी जवानी के चेहरे की एक कौंध भर दी।

हां, मैं इस मुस्कान को पहचानता हूं। मैं कब से इस मुस्कान को खोज रहा था, मैं कितना तड़पा किया हूं इस मुस्कान के चले जाने पर!...

'भउजी, तुम कहां रहीं इतने वर्षों तक?'

'मेरे नहीं रहने से कहीं क्या कुछ फर्क पड़ता है? कौन मेरे वियोग में तड़पा होगा? कौन मैं यहां सुख भोगती रही हूं कि कहीं और दुख भोगने का गम हो।'...

'भउजी, यह तुम क्या कह रही हो? तुम्हारा यह नन्हा देवर तुम्हारे जाने के बाद कितने दिनों तक रोता रहा, कितनी रातों सो नहीं सका; तुम्हें क्या मालूम!'...

भउजी ने मेरी ओर देखा, उनकी पलकें लपलपायीं और एकाएक बरस पड़ीं। वे धीरे-धीरे हबसने लगीं। मैं परेशान-सा हो उठा। इस तरह हमें कोई देखेगा तो क्या कहेगा? यों प्लेटफार्म सूना है किंतु स्टेशन का कोई भी कर्मचारी इधर से निकल सकता है। मुझे सभी पहचानते हैं। पूछेंगे तो क्या कहूंगा?...

'भउजी, रोओ मत। उठो, चलो', कहने को तो मैं कह गया लेकिन यह नहीं कह सका कि कहां चलो।

'कहां ले चलोगे बाबू?' भउजी ने थोड़ा व्यंग्य से मुस्कराकर पूछा।

'क्यों, क्यों?' मैं हकलाने लगा, 'तुम जहां चाहोगी, ले चलूंगा। तुम्हारा अपना घर है, मेरा अपना घर है।'

भउजी मुस्करायीं, 'मैं अपना घर तो खो चुकी हूं, बल्कि कहिए कि मेरा घर कभी बना ही नहीं, और तुम्हारा घर नष्ट करने मैं क्यों जाऊं?'...

'इसमें नष्ट करने का क्या सवाल है?' मैं बहुत ऊपरी मन से बोल रहा था क्योंकि मेरे पास समस्या का कोई सही समाधान नहीं था।

'नहीं बाबू, नहीं, मुझे लेकर इतना उलझने की जरूरत नहीं है—मैं दूसरी गाड़ी से लौट जाऊंगी। मैं अब अधिक दिन की मेहमान नहीं हूं। मेरे मन में बड़ी इच्छा थी कि काश, मैं एक बार उस धरती को छू आती जहां से छूटकर मैं बरसों से भटक रही हूं। कहो कैसे हैं मेरे घर के लोग?'

भउजी चुप हो गयीं।

'सभी ठीक ही हैं भउजी।'

'कैसा है मेरा बेटा सूरज ?'

मैं कुछ बोलूं इसके पहले ही भउजी एक विद्रूप हंसी हंसकर बोलीं, 'बेटा ! अरी वाह री मैं, बड़ी आयी बेटा कहने वाली, जब उसे छोड़कर आयी थी, तब नहीं बेटा था वह ?'

'सूरज ठीक ही है भउजी ! उसकी शादी हो चुकी है। सूरज इधर कई वर्षों से बीमार चल रहा है।'

'और लोग कैसे हैं ?'

'और नारायण भइया ने दूसरी शादी कर ली है। बाप-बेटे अलग हो गए हैं। क्या बताया जाए, दोनों में पटती नहीं है, काफी कहा-सुनी हो जाती है।'

'अलग क्यों हो गए ?'

'इसलिए कि सिंगापुर से आते ही नारायण भइया ने शादी कर ली, और सूरज अपनी नयी मां को मां मानने को तैयार ही नहीं हुआ। और उसकी शादी हो गयी तो एक-दूसरे को मानने और न मानने का संकट और बढ़ गया। नारायण भइया लाठी के बल पर संबंध मनवाना चाहते रहे और सूरज संबंध के लिए कोई कोमल चीज पाना चाहता रहा जो उसे नहीं मिली।'

'हां...' भउजी ने एक उसांस भरी। 'जो उसे कोमल चीज दे सकती थी, वह तो अपनी अग्नि में जलकर भाग खड़ी हुई नरेश बाबू ! मैं मां नहीं हूं नरेश बाबू, नरक का कीड़ा हूं। अपनी ही आग में अपने पूत को खा जाने वाली डायन हूं।'

भउजी सिसकने लगीं।

'नहीं भउजी, नहीं, तुम एक औरत हो। औरत को लोग न जाने क्यों और बहुत कुछ समझते हैं, औरत नहीं समझते। और जब वह औरत अपनी सहज भूख से परेशान होकर कुछ कर गुजरती है तब लोग उसें बदनाम करते हैं, उसे छिनाल कहते हैं, वेश्या कहते हैं। और एक बार जो औरत बदनाम हुई वह जीवन-भर उभर नहीं पाती। मर्द चाहे जो भी

करता रहे, वह हमेशा गंगाजल की तरह पवित्र रहता है।'

'हां, यही तो हुआ बाबू! मैं अपने घर में अपने ही भसुर से उकसायी जाकर काम की आग में जलने लगी और जब उससे छुटकारा पाने के लिए एक दूसरे पुरुष के साथ भाग गयी तब न जाने मैं क्या-क्या बन गयी। मुझे तो यहां का समाचार बहुत ही कम मिला लेकिन मैं सोच सकती हूं कि लोगों ने मेरे नाम पर कितना थूका होगा और घर की कितनी बदनामी हुई होगी।'

मैं चुप रहा, क्या बोलता! सचमुच ही कितना थूका था लोगों ने भउजी के नाम पर। कितनी घृणा, उपहास का स्वर बजबजाया था गांव में और कितना रोया था सूरज।...अब इसे भउजी के सामने उड़ेलकर क्या पा लूंगा? उनका जी और भारी ही होगा और वे खुद भी तो इसकी कल्पना कर रही हैं। और दरअसल मुझे यह जानने की इच्छा हो रही थी कि यहां से जाने के बाद भउजी कहां गायब हो गयीं। किसी ने भी आते-जाते उन्हें कभी नहीं देखा, किसी ने उनके कहीं होने की चर्चा नहीं की। लेकिन मैं पूछने से डरता था कि पता नहीं वे कैसा अनुभव करें। उनके दर्द की कौन-सी पर्त खुल जाए और रिसने लगे।

'क्यों, चुप क्यों हो नरेश बाबू? यह नहीं पूछोगे क्या कि मैं कहां मरती-जीती रही? क्या तुम भी मुझसे इतने निर्मोही हो गये कि तुम्हें मेरे बारे में कुछ जानने की इच्छा ही नहीं रही?'

'नहीं भउजी, मैं हमेशा तुम्हें याद करता रहा और यही सोचता रहा कि न जाने तुम कहां होगी? लेकिन हर आदमी की जिंदगी में झांकने की भी तो एक सीमा होती है भउजी! तुमसे कैसे पूछता?'...

'तुम नहीं पूछते लेकिन मैं तो मानो यह बताने के लिए ही यहां आयी। और मेरा भाग्य देखो कि गांव के बाहर तुम ही मिल गये...तुम मिल गये मानो यहां की धरती ही मुझे मिल गयी। मैं नहीं बताऊंगी तो इतना बोझ लेकर कहां जाऊंगी! मैं नहीं चाहती कि मरद जाति मेरे जरिये औरत जाति पर थूकती रहे...मैं चाहती हूं कि वह अपना चेहरा भी देखे। और मुझे विश्वास है कि वह तुम्हीं हो जो मुझे समझ सकते हो और अपनी जाति वालों तक उनके असली चेहरों के प्रति मेरी नफरत पहुंचा सकते हो। और

तो कोई सुन ही नहीं सकता और सुने भी तो समझ नहीं सकता।…'

भउजी फिर चुप हो गयीं। जैसे कुछ कहने के लिए बात समेट रही हों।

'अच्छा तो सुनो।'

'भउजी ! मैं अब यहां कुछ नहीं सुनूंगा। यह प्लेटफार्म है, कितना भी सूना क्यों न हो, यहां कभी भी कोई आ-जा सकता है। हम लोगों को यहां बैठे देखकर सौ तरह के सवाल कर सकता है। मेरे घर से ही लोग खोजते हुए आ सकते हैं। मुझे तुम्हारी चिंता है। गांव के बगीचे के पास मेरा खेत है। उसमें झोंपड़ी डाल ली है, वहीं सोता हूं। चलिए, वहीं चलते हैं; इस वक्त एकदम सन्नाटा होगा, वहां आपकी बात बेफिक्री से सुनी जा सकती है।…'

'लेकिन बाबू, मुझे गाड़ी भी तो पकड़नी है।…'

'भउजी, गाड़ी तो १२ बजे रात को जाएगी, अभी तो आठ बजे हैं, बहुत टाइम है गाड़ी पकड़ने के लिए…भउजी, न जाने कैसा लगता है जब तुम गाड़ी पकड़कर जाने की बात करती हो।'

'तो क्या करूं, न जाऊं? चलूं तुम्हारे भइया के पास, रख लेंगे मुझे?'

मैं निरुत्तर हो गया। भउजी हंसीं और बोलीं, 'चलो, चलते हैं बगीचे की ओर…'

रास्ते लगभग सूने हो गये थे। दूर से कुत्तों के भूंकने की आवाजें आ रही थीं। भउजी धीरे-धीरे डगमगाती हुई-सी मेरे पीछे-पीछे आ रही थीं और मैं धीरे-धीरे अतीत में खो गया…

भउजी का घर मेरे घर से सटा हुआ था। तब मैं प्राइमरी स्कूल में पढ़ता था। भउजी मुझे बहुत प्यार करती थीं। भउजी के पति नारायण भइया और नारायण भइया के बड़े भाई केदार भइया, दोनों सिंगापुर में नौकरी करते थे। घर पर इनके पिता सीताराम चाचा थे और उनकी दोनों बहुएं थीं। सुहागी भउजी जितनी ही सुंदर थीं, उतनी ही स्वस्थ; एकदम गदराये शरीर वाली। और जितनी ऊष्मा उनके खून में रही होगी, उतनी ही उनके प्यार में थी। मुझे बहुत प्यार करती थी। जब मैं उनके घर जाता (और रोज ही जाता) तो वे कुछ न कुछ जरूर खाने को देती थीं और प्यार से गोद में भर लेतीं। वे काम-धाम करती होतीं तो मैं

उनके ऊपर ही लद जाता। उनके शरीर में से मां की-सी उष्मा फूटती रहती और उनके आसपास अन्नपूर्णा की गंध का प्रभामंडल फैला होता। उनकी जेठानी बस थी—न भली न बुरी, न ठंडी न गरम, जैसे भीतर-भीतर कोई रोग हो। और सोहागी भउजी एक गुनगुनाता हुआ अस्तित्व थीं। लेकिन उस गुनगुनाहट में कैसी एक वेदना थी, उस मातृत्व में कैसी एक नारी-सुलभ ज्वाला थी, इसे मैं १० वर्ष का बच्चा क्या समझता? जब वे फुरसत में होतीं तो उनकी बड़ी-बड़ी आंखों में एक अजीब सूनापन उभर आता। वे देर तक एक ही ओर देखती रह जातीं और मैं उन्हें देखता हुआ बैठा रह जाता। जब मैं पुकारता, 'भउजी।' तो वे चौंक उठतीं और भीगे हुए स्वर में कहतीं, 'बाबू, एक ऐसी चिट्ठी लिख देते कि तुम्हारे भइया सिंगापुर से आ जाते।' और मैं अपनी बालबुद्धि के अनुसार खूब चतुराई-पूर्वक पत्र लिखता, जिसमें भउजी और घर वालों के दुख की कथा होती और न जाने क्या-क्या होता। ऐसी अनेक चिट्ठियां लिखीं लेकिन मेरी चतुराई किसी काम न आयी।

भउजी बताती थीं कि उन्हें गये सात साल हो गये। सूरज साढ़े छः साल का हो गया। अभी तक इसे उन्होंने देखा भी नहीं। मैं भी तब ग्यारह वर्ष का रहा हूंगा, इसलिए मुझे भी नारायण भइया की कोई याद नहीं है। एक दिन मैं गया तो भउजी रो रही थीं। मुझे देखते ही गोद में भींच लिया। मैं अपनी नन्ही-नन्ही अंगुलियों से उनके आंसू पोंछने लगा तो और रो पड़ीं। मेरे बहुत पूछने पर बताया कि सिंगापुर में रहा हुआ एक आदमी बता रहा था कि वहां जाने वाले हिंदुस्तानी बाल-बच्चों को भला क्यों याद करेंगे? वे कोई स्यामिन रख लेते हैं।···

'इसलिए सूरज के बाबू इतने निर्मोही हो गये हैं बाबू? इतनी चिट्ठियां लिखवायीं, कोई खोज-खबर नहीं ले रहे हैं।' भउजी बोलती हुई फिर रोने लगीं।

तब मुझे क्या मालूम था कि औरत के लिए, पति का सात साल का वियोग क्या अर्थ रखता है? बाद में महसूस किया तो न जाने कितने संक्रांत अनुभवों से भर गया।

मेरे सामने अपने गांव की उस भयानक गरीबी का बोध उभर आया

जिसकी लपेट में लोग अपने बाल-बच्चों को छोड़कर दस-दस, पंद्रह-पंद्रह साल तक परदेश में कालेपानी की सजा भोगते हैं। कैसा अनुभव करते होंगे वे लोग ?···उनकी प्यार की तड़प, उनकी यौन बुभुक्षा···? लेकिन सच तो यह है कि अपने ही घर में पड़ी उनकी औरतें उनसे भी अधिक यंत्रणाप्रद कालेपानी की सजा भोगती हैं। पुरुष तो बाहर बहुत कुछ कर लेते हैं, वे अपनी भूख-प्यास मिटाने के साधन खोज लेते हैं किंतु स्त्रियां घरों में घुटती हैं और उन्हें किसी से हंसकर बोलने का भी अधिकार नहीं होता। नैतिकता केवल उन्हीं के हिस्से में डाली गयी है। जो अभाव वे झेलती हैं, वे तो झेलती ही हैं; परोक्ष या अदृश्य भय भी उन्हें सालता रहता है। 'पता नहीं, वे कैसे होंगे ?' से लेकर 'पता नहीं, वे मुझे याद भी करते हैं या नहीं, पता नहीं कोई सौत लेकर तो नहीं बैठ गये हैं?' तक का दर्द उन्हें तोड़ता है। सोहागी भउजी की जलती हुई जवानी का एक चित्र मेरे मन में ख़ुद-ब-ख़ुद बन जाता। सात वर्षों के विरह के ताप में तपता हुआ जवान औरत का मांसल शरीर, ग्रीष्म में झुलसती हुई जैसे धरती। मुझे लगता, सोहागी भउजी का गदराया हुआ गौर शरीर जैसे दहकता हुआ स्वर्ण-खंड बन गया हो, और उस पर पति-संसर्ग की स्मृतियों के क्षण पानी की बूंदों की तरह पड़-पड़कर छन्न-छन्न कर रहे हों, और शरीर में से भाप-सी उठा दे रहे हों। नारी के शरीर-धर्म को इतना अनैतिक, इतना उपेक्षणीय क्यों मान लिया गया है ? उसके अभाव को मन की ही सीमा तक क्यों सीमित कर दिया गया है? पुरुषों के सारे वेद-शास्त्र, कायदे-कानून, थाना-कचहरी नारी के भोगधर्म के खिलाफ क्यों अपनी उंगली उठाये घूमते हैं ? पुरुष के शरीर-धर्म को तो कोई भी लांछित नहीं करता।

मुझे याद है, नारायण भइया तो नहीं आये, केदार भइया सिंगापुर से आये। और जब आये तो उनकी पत्नी मर चुकी थीं। केदार भइया भी एक ही जीव थे। उन्हें भी मैंने पहली बार देखा था क्योंकि वे नारायण भइया से भी पहले सिंगापुर चले गये थे। सीताराम चाचा पुराने जमाने के रसिया थे। उन्होंने केदार भइया के आने के पहले एक कत्थक लौंडा अपने यहां पाल रखा था और खेतीबारी छोड़कर खुद भी यहां-वहां नाच देखते फिरते थे।

इस घर की गरीबी बढ़ती जाती थी; खेत परती पड़े होते थे और सिंगापुर से जो रुपये आते थे वे बरबाद हो रहे थे। साथ ही गांव में इस घर की बदनामी फैलती जा रही थी। एक अजीब सीलन-भरी, गरीबी-भरी गंध इस परिवार को डंस रही थी। जब मैं सोहागी भउजी से मिलता, तो वे रो-रोकर बेहाल हो जातीं, 'देख रहे हो बाबू, इस घर की हालत ! बूढ़े आदमी नाच-मंडली बनाये हुए हैं।' धीरे-धीरे घर में गरीबी अपना पांव पसारती गयी, खेत रेहन पर चढ़ते गये, घर के बरतन तक बिकते गये, गगरे की जगह मिट्टी के घड़े ने ले ली, गाय-भैंसें बिक गयीं, बैल भी मरते चले गये। सिंगापुर में घर की यह खबर मिली तो नारायण भइया ने केदार भइया को घर भेज दिया। केदार भइया आखीर ठहरे अपने बाप के ही बेटे। पहले तो बाप-बेटे में घर की बरबादी को लेकर कहा-सुनी हुई; बाद में केदार भइया भी नाच में शामिल हो गये और बाप-बेटे में नचनिया लौंडे को लेकर झगड़े होने लगे। फिर दोनों अपने-अपने ढंग से नाच-मंडली का सट्टा लिखाना चाहते थे। केदार भइया बहुत बातूनी, मिठ बोलवा और झूठे थे। लड़कों को इकट्ठा करके सिंगापुर की कहानियां सुनाया करते थे। वे बहुत जल्दी-जल्दी बोलते, एक खास अदा से बोलते। मैं मुस्कराता हुआ उनकी इसी अदा को देखा करता। वे समझते कि मैं उनकी कहानी बहुत पसंद करता हूं, इसलिए मुझे बहुत मानने लगे। वे खुद अनाड़ी स्वर में गाने भी लगते और हमें पकड़ लेते कि सुनो और हम उनका गाना नहीं, उनके गाने की अदा देखने के लिए उनके पास एकत्र हो जाते और वहां से हटकर हम लोग उनकी अदा की नकल कर-करके हंसी से लोटपोट हो जाते। केदार भइया के आने से घर और भी बरबादी की ओर जाने लगा। केदार भइया की सिंगापुर की कमाई तो कम हो ही गयी, नारायण भइया की भी कमाई नाच-गाने में फुंकने लगी।

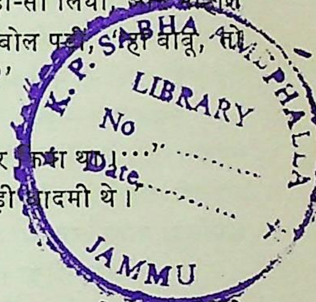
भउजी मुझसे रो-रोकर घर की कहानी कहतीं और नारारण भइया के पास कई चिट्ठियां लिखवातीं जिनमें इस हालत का बयान किया जाता। इसका नतीजा यह हुआ कि नारायण भइया ने वहां से रुपये भेजने बंद कर दिए और घर और भी अभाव के सन्नाटे में समा गया। गरीबी और गंदगी की मिली-जुली सड़ांध से यह परिवार गांव में बदबू फैलाने लगा।

केदार भइया ने यह प्रचार किया कि नारायण ने वहां एक बर्मिन रख ली है इसलिए पैसे नहीं भेजता।···

'हां बाबू, अब यहीं कहीं बैठ जाओ,' और मैं अपने दिवास्वप्न से उबरा तो पाया कि हां, बगीचा तो आ गया है।

'भउजी, यह रही मेरी झोंपड़ी, तुम इसमें विश्राम करो, मैं अभी घर से लौटकर आता हूं। घर नहीं पहुंचूंगा तो तहलका मच जाएगा।'

और जब मैं आधे घंटे में लौटकर आया तो साथ में कुछ खाने को भी लाया था। बहुत जोर डालने पर भउजी ने थोड़ा-सा लिया, और माहौल का गहरा सन्नाटा अपने भीतर खींचा और बोल पड़ीं, 'हां बाबू, तो तुम्हारे भइया वह बर्मिन अपने साथ नहीं लाए ?'



'कौन-सी बर्मिन ?'

'अरे वही, जिसके बारे में भसुरजी ने प्रचार किया था।···'

'अरे भउजी, केदार भइया तो एक ही गपोड़ी आदमी थे।'

'थे क्या ?'

'हां थे ही, कई साल हुए मर गए।'

'नरक का कीड़ा ! वह गप्पी ही नहीं था, बदमाश भी था। उसी ने मेरा जीवन नरक किया।'

मैंने गांव में केदार भइया और भउजी के संबंध की बातें सुनी तो थीं, किंतु अफवाहों पर मैं बहुत विश्वास नहीं करता।

'जानते हो बाबू' उसी दहिजरे ने कहा था कि अब वो नहीं आएंगे, एक बर्मिन रख ली है। मैं तो उसी को घर भेज रहा था, लेकिन उसने मुझे जबरदस्ती घर भेजा ताकि उस औरत से खुल खेल सके। मेरे होते हुए डरता था। देखो, अब न उसकी चिट्ठी आती है और न पैसे···

'और मैं सचमुच ही डर गयी थी—क्या भरोसा इन मर्दों का ! और क्या बताऊं बाबू, मैं करमजली उसके बहकावे में आ गयी। वह धीरे-धीरे मेरे तपते हुए शरीर का ताप उकसाने लगा, बहलाने लगा। वही घर का सबसे जेठा और जब वही सारी गंदगी को ठीक बताने लगा, तो मेरे मन में जो लोक-भय था, वह भी दूर होने लगा और मैं उसके नरक में जा गिरी। न जाने कब तक हम दोनों इस पाप के कीचड़ में लोटते रहे।

भीतर यह सब चलता रहा। बाहर नाच की दुनिया अलग अपनी गंदगी फैला रही थी।···

'गोपालपुर का सोनार सुंदर इस घर का दोस्त था। भसुरजी का खास साथी था। वह आया करता था। भसुरजी उससे कुछ गहने बनवा रहे थे मेरे लिए। सोनार था गहने बनानेवाला। उससे कोई लाज-शरम की बात ही नहीं थी, लेकिन इस घर की आबोहवा ऐसी हो गयी थी कि हर आदमी इसे वेश्यालय समझने लगा था। एक दिन वह चूड़ी बनाकर ले आया। घर में कोई नहीं था। मुझे बुलाकर चूड़ी दी। मैं पहनने लगी तो चूड़ी कलाई में नहीं आयी। मैंने उसे वापस करते हुए कहा—भइया, यह चूड़ी छोटी है, नहीं आ रही है।

'उसने कहा—नहीं, नहीं, छोटी कैसे है ! लाइए मैं पहनाता हूं।—वह पहनाने लगा। सोनार-चुरिहार आदि से कोई परदा नहीं होता।। चूड़ी आ नहीं रही थी, वह जबरदस्ती पहना रहा था और इसी बहाने मेरी अंगुलियां मसल रहा था। और करते-करते उसने मेरी कलाई पकड़ ली और अपनी ओर खींचा। कहा—भउजी, अरे मैं भी तो हूं; हमारे ऊपर भी कभी मेहरबानी कर दिया करो। केदार भइया तुम्हें क्या देंगे, मैं तो तुम्हें गहनों से लाद दूंगा।—मैंने उस दहिजरे को ढकेलकर दो चांटे जड़ दिए और कहा—फिर आओगे तो टांग तोड़ दूंगी।—वह चला गया। मैं बहुत दुखी हुई। लेकिन वह पवित्र दुख कहां जो एक सती-साध्वी के भीतर से निकलता। मैं तो भ्रष्ट हो ही चुकी थी, इसलिए पछतावा था तो केवल इतना कि क्या मैं अब वेश्या समझी जाने लगी हूं ? हाय राम, कहीं कुछ आगे-पीछे दाएं-बाएं नहीं सूझता था।···

'और एक दिन वह हो गया, जिसे होना था। मैंने भसुरजी से कहा अब क्या होगा ?···'

'कुछ नहीं होगा, शहर चलकर सब ठीक करवा देंगे।'

'मैं ठकमारी-सी खड़ी रह गयी। लगता था कि भसुरजी ने उस होने-वाले अंजाम से निबटने का तरीका बहुत पहले सोच लिया था किंतु मैंने इस तरह नहीं सोचा था। भसुरजी के जवाब को सुनकर मैं 'हां', 'ना'

कुछ भी नहीं कह सकी, लेकिन कुछ देर बाद मैंने सोच लिया कि नहीं, बच्चा गिरवाऊंगी नहीं। आखिर यह जिंदगी कब तक चलेगी? कब तक बच्चे गिरवाऊंगी? क्या करूं, कहां जाऊं? पति ने एक औरत रख ली है, और भसुरजी चाहें तो भी मुझे और मेरे बच्चे को अपना नहीं सकते। जो कर्म हम लोग कर रहे हैं क्या वह केवल पशु-कर्म बनकर रह जाएगा? क्या मैं जिंदगी-भर 'वेस्सा' बनकर रह जाऊंगी? और जब मेरे पति आ जाएंगे तो क्या यह सब नहीं सुनेंगे? क्या मुझे अपनाएंगे? क्या भसुरजी से उनकी मारपीट नहीं होगी? तब मै कहां जाऊंगी, कहां जाऊंगी, कहां जाऊंगी? हे राम, मेरा क्या होगा? मैंने यह सब क्या कर दिया?···

'और जब दूसरे दिन सुंदर आया और मुझे तरसी निगाह से देखने लगा तो मैंने उसे देखने दिया। थोड़ा मैं भी मुस्करा दी। इधर भसुरजी शहर चलने के लिए रोज प्रोग्राम बनाने लगे, उधर सुंदर धीरे-धीरे मेरा सहारा पाकर मेरी ओर खिचने लगा। और एक दिन एकांत पाकर अपना प्रेम बखानने लगा। मैंने उसे आजमाना शुरू किया—बोलो, तुम मेरे लिए क्या कर सकते हो?

'वही मरदों की पुरानी बोली उसने बोली—मैं तुम्हारे लिए जान दे सकता हूं।

'नहीं, जान-वान देने की जरूरत नहीं है; तुम मुझसे शादी कर सकते हो?'

'अरे, मैं तो सब कुछ कर सकता हूं। मैं तो जनम का रंडुवा हूं, तुम मेरी औरत बन जाओ तो क्या कहने?···

'लेकिन यह कैसे होगा सुंदर? इस गांव में तुम ब्राह्मण की बहू से शादी करके जिंदा रहने पाओगे? बोलो, है हिम्मत?

'नहीं, हिम्मत-विम्मत की बात नहीं; बात सुख से रहने की है। यहां हम लोग सुखी भी तो नहीं रह सकेंगे!

'तब?

'आओ कहीं भाग चलें? बोलो तैयार हो?

'मैं भी यही चाहती रही, देवर जी, इसके सिवा जिंदगी जीने का कोई रास्ता नहीं था। फिर मैंने कहा—ठीक है, तुम तैयारी करो।—और

एक दिन हम लोग रात को भाग गये।'

'हां भउजी, तुम लोग भाग गए, यह तो मालूम ही है। और उसके बाद गांव में जो तहलका मचा, वह भी मालूम है। अच्छा ही हुआ—तुम भाग गयीं। गांव में जो जिंदगी तुम जी रही थीं, वह तो एक बंद नरक था। उसमें जीना मुश्किल, उससे निकल पाना मुश्किल और खासकर तब और भी मुसीबत हो गयी होती जब नारायण भइया सिंगापुर से लौटकर आए और वह बरमिन रखने वाली बात एकदम बेबुनियाद सिद्ध हुई।...'

'लेकिन बाबू, औरत को मुसीबत से छुटकारा कहां मिलता है? औरत और मुसीबत दोनों एक ही हैं।' कहकर भउजी चुप हो गयीं और हल्के-हल्के सिसकने लगीं। मुझे लगा कि घर छोड़ने के बाद के लंबे समय की यातना उनके सामने साकार हो उठी है।...

'हम लोग कई दिन, कई रात गाड़ी में चलते रहे। हम दोनों डरे हुए थे कि थाने में रपट हुई होगी, पुलिस खोजती होगी, कहीं किसी स्टेशन पर पकड़ न लिये जाएं? जहां कहीं पुलिस वाले दिखायी पड़ते, हम लोग डर जाते। न भूख थी, न प्यास। घर छोड़ आयी थी, न जाने कहां जा रही थी। न सुख हो रहा था, न दुख। एक अजब उदासी मन में अंटी पड़ी थी। सुंदर खाता-पीता रहा। खाने-पीने के लिए मेरी मनुहार करता रहा। लेकिन मैंने कहीं कुछ ले लिया तो ले लिया, नहीं तो मना कर दिया। कई दिन बाद एक टीसन आया तो सुंदर ने कहा—उतरो।—वह कोई बड़ा शहर था; सुंदर ने बताया—यह अहमदाबाद है, मैं यहां काम कर चुका हूं, कोई न कोई काम मिल जाएगा और हम दोनों मौज करेंगे।

'गाड़ी में एक आदमी से जान-पहचान हो गयी। उसने कहा—चलो हमारे यहां एक-दो दिन ठहरो।—हम उसके यहां चले गए। उसने चाय पिलायी और कहा कि कोई काम ढूंढ़ देंगे। दो-एक दिन हमारे साथ रहो। आखिर हमें जाना कहां था, रहना ही था। वह अकेले रहता था। उसके पास कमरा भी एक ही था। और कमरा भी क्या था, कमरे का नाम था। हम लोग भीतर सोये और वह बाहर सोया। वह पहली रात कितनी भयानक थी। बाबू, अब मैं तीसरी शादी का अनुभव कर रही थी, लेकिन अब पाप-पुण्य और भला-बुरा लगने का रास्ता काफी पीछे छोड़ आयी

थी। सुंदर की पशुता से अब क्या शिकायत हो सकती थी जब उसे अपना मरद मान ही लिया था।···

'वह आदमी अपने को कानपुर के पास का बता रहा था। सुंदर ने अपने को पटना के पास के एक गांव का बताया। धीरे-धीरे जान-पहचान बढ़ती गयी और मुसीबत भी बढ़ती गयी। उस आदमी का नाम परदेसी था। वह पूछता कि घर पर कौन-कौन हैं, कितने बच्चे हैं और क्या-क्या है? सुंदर ने कह दिया—घर पर कोई नहीं है। कुछ खेती-बारी है, जो बंटाई पर दे रखी है।—सुंदर उससे खुद कुछ नहीं पूछता, ताकि वह भी कुछ न पूछे, लेकिन वह अपने-आप बताता कि मेरे घर पर तो मां है, बाबू हैं, बीवी है, दो बच्चे हैं, बहन है। पांच वर्ष हो गए, बच्चों को देखे हुए।

'पांच वर्ष से आप गांव नहीं गए?

'नहीं, जो पैसे कमाता हूं, उसे घर वालों को भेज देता हूं। बस, अपने लिए दो वक्त की सूखी रोटी और मोटे-झोंटे कपड़े। पैसे कहां बचते हैं कि घर जाऊं? तिस पर तो उधर के लोग समझते हैं कि निरमोही हो गया हूं, कहीं किसी औरत को रख लिया हूं। ओह, अपनी ओर के लोग भी कितने अजीब होते हैं?

'उस रात मैं खूब रोयी। सूरज याद आने लगा। मेरा लाल कैसे होगा? कैसी चुड़ैल मां हूं कि अपने सुख के लिए उसे छोड़कर चली आयी। हाय! वह किसके सहारे होगा? जेठजी तो निहायत राक्षस हैं। सूरज के बाबूजी भी तो इसी परदेसी की तरह परदेस में पड़े हैं। घर के लिए हाड़-हाड़ पेरकर पैसे बचाते होंगे। सिंगापुर से आने में कितने पैसे लगते हैं? इसीलिए नहीं आते होंगे। और उन पर लांछन लगा दिया गया कि उन्होंने कोई बरमिन रख ली है। आखिर उनके हाड़-हाड़ में दरद नहीं होता होगा। मैं ही काम की अगिन में इतना क्यों जलने लगी? उसी कमीने जेठ ने सारी आग लगायी। मैं घर से क्यों भाग आयी? क्यों नहीं पकड़कर उसका मुंह झौंस दिया?···

'मैं सोये-सोये सिसकी भरने लगी तो सुन्दर की नींद टूट गयी:

'क्या हुआ? क्या हुआ?···

'कुछ नहीं। कुछ नहीं।...

'घर की याद आ रही है?

'नहीं, नहीं, घर कहां है कि याद आए।

'सो जाओ, वाहियात बातें मत सोचा करो।

'मुझे सुन्दर की आवाज में एक अजीब रुखाई मालूम पड़ी और वह रुखाई हमेशा उभर आती जब कभी मैं उदास होती।

'परदेसी सुन्दर के लिए नौकरी खोजने लगा। कई दिन बीत गए, नौकरी नहीं मिली। परदेसी बहुत अच्छा आदमी था, नहीं तो बिना जाने-पहचाने आदमी के लिए कौन इतना करता है? कौन अपने घर में रहने देता है? सुन्दर के पास पैसे थे, काम चलता जा रहा था लेकिन कब तक पैसे चलते। सुन्दर को मालूम हुआ कि अब पैसे खतम होने वाले हैं तो बहुत परेशान हो उठा। परेशान मैं भी तो हो उठी; आखिर परदेस में कैसे क्या होगा? वह चिड़चिड़ा होता जा रहा था, जैसे उसे पछतावा हो रहा था कि वह क्यों भागा? क्यों उसने यह मुसीबत मोल ली? और एक रात जब वह मुझे निचोड़ने के लिए अपनी ओर खींचने लगा तो मैंने उसे मना किया। फिर भी वह खींचता रहा और चाहता रहा कि मैं उसके उत्साह के साथ अपना उत्साह मिलाऊं, लेकिन मैं मुर्दे की तरह बेजान बनी रही। उसने मुझे पीछे ढकेल दिया और गाली देनी शुरू की—बेस्सा की जात, तुझे उस नरक से निकालकर लाया, तुझे सरन दी, अपना घर-द्वार छोड़ा और तू दिन-रात उसी नरक की याद में खोयी हुई मुर्दा बनी रहती है!—फिर उसने दो-तीन लात मेरी पीठ पर जमा दी। मेरे लिए गाली और मार खाना नया तो नहीं था, अपनी सास और कभी-कभी अपने मरद से गाली-मार खा चुकी थी। लेकिन यह सोनार मुझे गाली देगा, मारेगा यह मैं सह नहीं पा रही थी। मेरा ब्राह्मण संस्कार जाग उठा था और वह फन उठाकर सांप की तरह फनफना रहा था विरोध करने के लिए। सिसकती-सिसकती मैं धीरे-धीरे शांत हो गयी और धीरे-धीरे नीचे झुक आयी और अपने को धिक्कारा कि बहुत ब्राह्मण बनने आयी है कलमुंही। एक बार तू उस डाल से टूटकर पत्ते की तरह उड़ चली है तब तू क्या होगी, कहां गिरेगी, इसकी चिंता ही क्यों करती है? अब

कुछ भी चुनने का तेरा अधिकार छिन गया है। अब तू सोनारिन है, सोनारिन और कुछ नहीं।···उसके बाद तो उसकी गाली और मार का सिलसिला शुरू हो गया। लेकिन मेरी तकलीफ कम हो गयी। एक दिन मैंने सुन्दर को समझाया—देख, तू नीच जाति का है और मैं भी अब नीच जाति की हो गयी, लेकिन देख, हम लोग यहां दूसरे के मकान में हैं, नौकरी-चाकरी अभी लगी नहीं है, रात को तू इस तरह चीखे-चिल्लाएगा और मार-पीट करेगा तो हम लोग खतरे में पड़ जाएंगे।

'वह समझ गया, बल्कि भावुक हो गया और रोने लगा— नहीं, मैं तुम्हें अब कभी नहीं मारूं-पीटूंगा। मैं तुम्हें प्यार करता हूं। हम दोनों एक-दूसरे के लिए वहां से भागकर आए हैं। हमारा जीना-मरना अब साथ है; लेकिन देख, तू भी उदास मत रहा कर। मुझे इस पर गुस्सा लग जाता है और तेरी उदासी देखकर कोई भी समझ सकता है कि तू मेरी जोरू नहीं है।···

'मैं समझ गयी। हम दोनों एक-दूसरे से लिपटकर जी भरकर रोये और सुबह उठे तो बहुत ताजगी अनुभव कर रहे थे।

'दूसरे दिन परदेसी मिल से आया तो बोला—सुनो भाई सुन्दर, तुम्हारे लिए एक खुशखबरी लाया हूं। तुम्हारे लिए मैंने एक काम खोज लिया है। जिस मिल में मैं काम करता हूं उसी में तुम्हारे लिए मैंने एक काम कुछ महीनों के लिए ढूंढ़ लिया है। दिन की पाली में है यह और अच्छा है। एक आदमी देस गया है, उसी की जगह तुम्हें काम करना है। बड़ी मुसीबत से माना सेठ कमबख्त !

'ओह तुम बहुत अच्छे हो परदेसी भइया—कहते हुए सुन्दर उससे लिपट गया।

'लेकिन सुन्दर, एक बात है, तुम सोनार हो, फुंकनी से अंगीठी फूंक-फूंककर छोटी-सी हथौड़ी से सोना-चांदी पीटने वाले। यहां तो मजदूर का काम है। लोहार बन सकोगे ?

'हां, हां, भाई, क्यों नहीं बन सकूंगा ? मैं शहरी सोनार नहीं हूं, गांव का हूं। वहां अपने खेत भी जोतता रहा हूं।

'हां, हां; तब तो ठीक है।

'और सुन्दर मिल में काम करने लगा। वह शाम ढले आता तो थक

जाता। दरअसल वह गांव में खाली सोनारी करता था, खेत जोतने-बोने का काम उसके बस का नहीं था और उसके पास खेत थे भी नहीं। उसने झूठ बोला था।

'फुंकनी वाले के बस का नहीं था मिल में काम करना इसलिए वह शाम को आता तो थक जाता। कांखता-कंहरता। मुझसे देह दबवाता। पहले तो उसकी देह दबाने में मुझे बड़ी झिझक होती थी; बाभन होकर सोनार की देह दबाऊं! लेकिन मैं अपने को डांटने लगी—अभागिन, सब कुछ तो दे दिया उसे, अब क्या बचा है जिस पर तू बाभन होने का अभिमान करती है? अब तो वही सब कुछ है। और तू अब सोनारिन है, सोनारिन।...

'सुन्दर कांखते-कूंखते कहता—हे भगवान्, किस मुसीबत में फंस गया!—और मुझे लगता कि वह मुझको सुनाकर कह रहा है और मैं उसके इस दुख-दर्द का अपने को जिम्मेदार समझकर भीतर-भीतर छोटी हो जाती और न जाने क्यों मेरे मन में यह भय समा जाता कि मुझे कहीं यह छोड़कर न भाग जाए।

'मैं सुन्दर से रोज कहती—अपने रहने के लिए कहीं अलग इंतजाम कर लें। अच्छा नहीं लगता, इस भले आदमी के सिर पर भार बने रहना।

'अरे, इसमें भार की क्या बात है? यह अकेला ही तो है। इसे कुछ किराया दे देंगे। और मैं कोई दूसरी जगह खोज भी तो रहा हूं।

'नहीं, आखिर वह दिन को तो यहां रहता है न। मैं कमरे में रहूंगी तो वह बाहर ही तो रहेगा? बेचारा इस गर्मी में भी बाहर ओसारे में पड़ा रहता है।

'मुझे लगा कि सुन्दर थोड़ा बेचैन हो उठा। उसकी भौंहों पर बल आ गए। उसने कहा—हां, यह तो है।—और वह कुछ सोचने लगा। पूछा—परदेसी दिन-भर अपने ओसारे में ही पड़ा रहता है?

'हां, और कहां जाएंगे? उनका घर है तो जाएंगे कहां? दो-एक घंटे जरूर कहीं जाते हैं, शायद कहीं कोई और काम करते हैं।

'तो तुमसे खूब बोलता-बतियाता होगा?

'नहीं, ये बड़े शरीफ आदमी हैं। कभी कोठरी में से कोई चीज लेनी

होती है तो बोलकर आ जाते हैं और लेकर चले जाते हैं।

'हूं।...

'मुझे लगा कि सुन्दर के भीतर कोई और बात बैठ गयी है। उसने कहा—-जल्दी ही किसी घर का इंतजाम करना पड़ेगा।

'दिन गुजरते गए। सुन्दर परदेसी को इस कमरे के भाड़े के आधे रुपये देने लगा। पहले तो परदेसी लेने में सकुचाया किंतु जब सुन्दर ने कहा कि नहीं भाई, हम ऐसे नहीं रह सकते, दो-चार दिन की बात नहीं है। तो उसने ले लिए।

'दरअसल परदेसी भी सोचने लगा कि बुरा क्या है? अकेले आदमी का कौन बड़ा टिटिम्हा है? टिन से घिरे बाथरूम में जाकर कपड़ा-वोपड़ा बदल लेता है, रसोई बनाने की जगह हमें दे दी है। अपने ओसारे के एक किनारे पर ईंट खड़ी करके रोटियां सेंक लेता है। रोटी तो मैं उसकी बना सकती थी लेकिन परदेसी बाभन है, हमारा छुआ कैसे खाता?

'एक दिन सुन्दर ने मजाक-मजाक में कहा भी कि अरे परदेसी पंडित, परदेस में क्या छुआछूत लगा रखी है, हमारे चौके में खाया करो। क्यों जिंदगी-भर चूल्हा फूंकते-फूंकते तंग हो रहे हो?

'नहीं भाई सुन्दर, अरे जब धरम-करम ही छोड़ दिया जाएगा तो क्या बचेगा! परदेश रोटी कमाने के लिए आया हूं अपना धरम भ्रष्ट करने थोड़े आया हूं।

'वाह महाराज, गाड़ी में खाते नहीं हो? नल पर पानी नहीं पीते हो, होटलों में चाय नहीं पीते हो?

'परदेसी हंसकर बोला—अरे भाई, जहां नहीं बच सकता, वहां की बात और है।

'लेकिन मैं जैसे दो हाथ छोटी हो गयी। लगा, जैसे परदेसी महाराज ने मुझे ही सुनाकर कहा हो, और मेरे भीतर-भीतर एक बाभनी चिल्ला उठी। जी चाहा कि जोर से कहूं, परदेसी महाराज, मैं बाभन हूं, तुम्हारा खाना बना सकती हूं।...लेकिन सचमुच क्या मैं कह सकती थी?...

'मैं जहां रहती थी, वह एक छोटी-सी चाल थी। उसमें ज्यादातर यू० पी०-बिहार के लोग रहते थे, कुछ गुजराती भी थे। बड़ी गंदी चाल

थी। उसमें जगह-जगह गोश्त की खुली दुकानें थीं, चील-कौए मंडराया करते थे, सड़क पर जगह-जगह हड्डियां बिखरी होती थीं। यहां-वहां छोटे बच्चे पाखाने के लिए बैठे होते थे और गलियां गंदगी से भरी होती थीं। तंग-तंग गलियां थीं, जिनसे निकलना मुश्किल था। इस मुहल्ले के एक ओर खाली खुला मैदान था, जिसमें पशुओं की लाशें सड़ती रहती थीं, और म्युनिसिपैलिटी द्वारा फेंके गए कूड़े-कचरे की दुर्गंध भभका मारती रहती थी।

'पानी के लिए यहां-वहां कुछ पब्लिक नल गड़े थे, जिन पर चाल की औरतें लाइन लगाकर खड़ी होती थीं; किंतु कोई न कोई औरत जरूर ऐसी निकल आती थी जो लाइन तोड़ती थी और लड़ाई-झगड़ा शुरू हो जाता था···ऐसी फूहड़-फूहड़ गालियों की बौछारें छूटती थीं कि खड़े होने में शरम आने लगती थी। सबसे गंदा नरक दिखायी पड़ता था निबटने के समय। पब्लिक पाखाने बने थे; दिन में लाइन लगाकर लोटा-डब्बा लिये खड़े होने में कितनी शरम आती थी ! पाखाना भी गंदगी से भरा होता था और बैठने के समय हमेशा यह चिंता लगी होती थी कि लोग लाइन लगाकर बाहर खड़े हैं, जल्दी निकलना चाहिए। थोड़ी-सी देर होने पर औरतें दरवाजा पीटने लगती थीं। मेरे पेट में बच्चा था, उबकाई आती थी, उल्टियां होने लगती थीं और मेरी सांस-सांस में बदबू भर उठती थी। मैं सोच नहीं पाती थी कि क्या करूं ? सोचती, हे राम, मैं कहां आ गयी ! जब नरक ही भोगना था तो गांव क्या बुरा था ? वहां इतना नरक तो नहीं था, और जो था वह कम से कम अपने लोगों का तो था। सुन्दर ने शहर के कितने प्यारे-प्यारे सपने दिखाये थे। ओह रे, भगवान् !···

'दिन बीतते गए। सुन्दर तो मानो औरत के लिए जनम-जन्मांतर से भूखा था। उसकी भूख मिटती ही नहीं थी, मैं विरक्त होती जा रही थी। एक दिन मैंने उससे कहा कि अब अपनी भूख कम करो। देखो मेरे पेट में बच्चा है। फिर भी वह नहीं माना तो मैंने उसे जोर से धक्का दे दिया। वह खाट पर गिर गया, उठा तो उसकी आंखों में गुस्सा था। बोला—साली, छिनाल, मैं सब समझता हूं, दिन को ही तृप्त हो जाती है तो रात को कैसे मन करे।

'मैं सनाका खा गयी, फिर तेज गुस्से से भर उठी। पूछा—क्या कहा तुमने ? तुम्हें शरम नहीं आती, इस तरह बकवास करते हुए ?

'हां, हां, बकवास कर रहा हूं। साला परदेसिया दिन-भर खाली रहता है न, यहां तुम्हारे पास खड़ा रहता है। मैं सब समझता हूं। औरत तो खायी-खेली हो ही।

'ऐ, जबान संभालकर बोल, उसने तुम्हें नौकरी दिलायी, अपने मकान में रखा और एक तुम हो कि उसी को कलंकित कर रहे हो ! कितने बड़े कृतघ्न हो ! बड़े मर्द बनते हो एक मकान खोज क्यों नहीं लेते ?

'चुप रह कुतिया, बड़ी आयी तरफदारी करने उस बाभन की। साला मेहरी-लरिका गांव पर छोड़कर परदेस में दूसरों की औरतों से भूख मिटाता रहता है।

'तू चुप रह। मुझे बदनाम करना हो तो कर ले, उस बेचारे शरीफ आदमी के बारे में कुछ न कह।

'और उसने मुझे पीटना शुरू कर दिया। मैं मार खाती रही और वह गालियां दे-देकर पीटता रहा। मैं रोयी नहीं, कौन तमाशा खड़ा करे। वह थककर खुद चुप हो गया और फिर लेटकर खर्राटे भरने लगा। मैं नीचे एक चादर बिछाकर लेट गयी और रात-भर लहकती रही। अपने को कोसती रही, हाय, मैं क्यों घर छोड़कर भागी ! अब तो मैं बीच भंवर में हूं, उधर जा नहीं सकती और इधर भी कोई कूल-किनारा नहीं सूझ रहा है। फिर घर की याद आ गयी। सूरज का प्यारा मुखड़ा आंखों में भर उठा।···

'ऐसे ही जिंदगी चलती रही। मैं सुन्दर से कोई अलग कमरा खोज लेने के लिए रोज जिद करती, वह खोजता भी लेकिन कोई अलग कमरा मिल पाना असंभव था। एक व्यक्ति शाम को सुन्दर से मिलने आने लगा, नाम था कलपू चौधरी। मुझे यह आदमी पता नहीं क्यों, पसंद नहीं आता था। उसके उठने-बैठने, बोलने-बतियाने, देखने-सुनने के रंग-ढंग में एक काइयांपन, एक धूर्तता दिखायी पड़ती। वह मेरी ओर मुस्कराकर बहुत गंदे तरीके से देखता लेकिन सुन्दर उसे बहुत पसंद करता था। वह उसके साथ उठता-बैठता, घूमता-फिरता। एक दिन सुंदर ने कहा—चलो,

कमरे का इंतजाम हो गया और परमानेंट नौकरी भी लग जाएगी।

'वह बड़ा प्रसन्न था। मैं उसकी ओर देखने लगी।

'हां, हां, देखती क्या हो ? क्या मैं झूठ बोल रहा हूं ? अरे, अरे, यह कलपू है न, वह बड़ा जोरदार है, बड़े-बड़े अफसरों से उसकी जान-पहचान है। उसने साहबों से बात की है। जल्दी ही मुझे परमानेंट नौकरी मिल जाएगी। और हां, वह कहता है कि हम लोग उसके कमरे में चले जाएं। वह भी अकेला आदमी है, किसी दोस्त के साथ रह लेगा। वह असरदार आदमी है, जल्दी ही कोई कमरा भी दिला देगा।

'मैं कुछ नहीं बोली।

'अरे, तुम कुछ बोलतीं क्यों नहीं ?

'मैं क्या बोलूं ? मेरे बोलने का कोई मतलब हो तो बोलूं।

'लगता है, तुम्हें अच्छा नहीं लगा।—उसने भेद-भरी आंखों से मुझे देखा।

'हां, यह चौधरी अच्छा आदमी नहीं मालूम होता। वह जरूर हमें किसी मुसीबत में फंसाएगा।

'जिसे परदेसी अच्छा लगने लगा हो उसे चौधरी कैसे अच्छा लगेगा ?···

'मैं जानती थी, तुम यही कहोगे, इसीलिए मैं कुछ कहना नहीं चाहती थी। तुम्हारे मन में खोट समा गया है तो कोई क्या कर सकता है। परदेसी सचमुच में बहुत अच्छा आदमी है। मैं तुम्हें कहे दे रही हूं कि कलपू तुम्हें जरूर मुसीबत में डालेगा।

'फिर उसने मुझे भद्दी-भद्दी गालियां दीं।

'और एक दिन हम लोग कलपू चौधरी के कमरे में चले गए। परदेसी कुछ नहीं बोला। उसने इतना ही कहा—आप लोगों को मेरी कोई जरूरत हो तो आ जाइएगा।—मुझे लगा कि परदेशी को हमारा वहां से जाना अच्छा नहीं लग रहा था। शायद उसे डर था कि हम लोग किसी मुसीबत में फंसने जा रहे हैं।

'कलपू सचमुच अपने किसी दोस्त के साथ रहने लगा। उसने कमरे का जो किराया बताया था उसे हर महीने लेने लगा। धीरे-धीरे मुझे यह

मालूम हुआ कि वह जो किराया लेता है, वह उस किराए का दूना है जो वह चाल के मालिक को चुकाता है। यह भी मालूम हुआ कि ऐसा यहां अनेक लोग करते हैं।

'दिन सरकने लगे, मेरा पेट फूलता गया। लेकिन एक दिन बहुत दर्द हुआ और आसपास के कुछ लोग मुझे लादकर अस्पताल ले गए। वहां मेरा छह महीने का गर्भ गिर गया, मैं मरते-मरते बची। कलपू की जान-पहचान ने बड़ा काम किया और मेरे मन में कलपू के प्रति जो खराब विचार थे, वे काफी कम हो गए।

'धीरे-धीरे मैं ठीक हो गयी। मेरी पूछताछ करने के बहाने कलपू काफी आने-जाने लगा। कलपू जवान था, आसपास की औरतें उसे छैला कहती थीं। औरतों से यह भी मालूम हुआ कि यह गांव में अपनी औरत को छोड़े हुए है; न वहां जाता है, न पैसे भेजता है; बस, यहीं गुलछर्रे उड़ाता है। मुझे वह भउजी-भउजी कहने लगा था।

'एक दिन तो मैं परेशान हो गयी। रात को सुंदर शराब पीकर आया और अंट-शंट बकने लगा।

'मैंने उसे बहुत डांटा कि अरे अभागे, खाने को पैसे नहीं जुड़ते हैं, अब तू शराब पीकर आने लगा। अभी नौकरी ढंग से लगी नहीं और तूने यह लत डाल ली। अब बरबादी में देरी नहीं है।···

'उसने गालियां देनी शुरू कीं और कहा—कौन साला अपने पैसे से शराब पीता है? अरे, यह तो मेरे यार कलपू ने पिलायी है। उसके पास बौत पैसे हैं, तू साली क्यों फिकर करती है।—और मुझ पर टूट पड़ा।

'मैंने उसे ढकेलते हुए कहा—अरे अभागे, अभी महीना-भर भी नहीं हुआ अस्पताल से लौटे और तू पशुता पर आ गया?

'उसने मुझे मारना शुरू किया। मैं अपने को वश में नहीं रख सकी और पास में पड़ी एक लोहे की छड़ उठा ली और तड़पकर बोली—खबरदार, जो तुम आगे बढ़े। इसी छड़ से मारकर तुम्हारा सिर तोड़ दूंगी! यही करने के लिए मुझे यहां लाया था?

'उसकी आंखों में भय समा गया था। वह पीछे सरकने लगा और मैं छड़ लिए बढ़ने लगी। वह कमरे के बाहर हो गया। मैंने अन्दर से किवाड़

बन्द कर लिए। वह किवाड़ भड़भड़ाता रहा फिर थककर लेट गया। सवेरे किवाड़ खोले तो देखा, वह बरामदे में लेटा हुआ था। उसे जगाकर अन्दर ले आयी, चाय बनायी, पिलायी। वह कुछ सकुचा रहा था।

'तुमने शराब की लत डाल ली न ?

'अरे नहीं रे, इस कलपू ने बड़ा हठ किया कि पी ले यार ! मैं पी गया। अब कभी नहीं पिऊंगा, मेरी रानी।

'लेकिन वह अक्सर पीकर आने लगा। और एक दिन मालूम पड़ा कि उसकी नौकरी छूट गयी है। वह आदमी आ गया है, जिसकी एवजी में वह था। कलपू ने घर आकर बहुत ढाढस दिया—कुछ नहीं यार, कलपू के होते हुए तुम्हें नौकरी की कमी पड़ेगी ?—लेकिन होते-होते कई दिन बीत गए। कलपू ने कुछ पैसे दे दिए काम चलाने के लिए। एक महीने बाद उसने एक फैक्टरी में लगा दिया। फैक्टरी में पैसे कम मिलते थे लेकिन क्या करते, जैसे-तैसे काम चलाना ही था। सुन्दर कभी-कभी शराब पीकर आता ही था, कहने पर गाली-गलौज करता और कहता—क्या मैं अपने पैसे से पी रहा हूं ? यह तो कलपू पिलाता है।

'मैं कलपू से डर गयी थी। समझ गयी थी कि कलपू की नीयत बुरी है और जानबूझकर वह सुन्दर को जाल में फांस रहा है। लेकिन कुछ कहने पर सुन्दर कहता—कलपू मेरा जानीं यार है, बहुत प्यारा आदमी है।...

'एक दिन कलपू अपना सारा सामान लिए आ गया और बोला कि दोस्त के यहां लोग आ गए हैं, अब मैं अपने ही घर रहूंगा। सुन्दर ने कहा—रहो यार, यह घर तो तुम्हारा ही है। यह तो तुम्हारी मेहरबानी है कि हमें अपने यहां रख लिया है।'

'अरे नहीं यार सुन्दर, दोस्ती में प्यार होता है मेहरबानी नहीं। ऐसी जबान का इस्तेमाल करके मुझे जलील मत किया कर।

'लेकिन मैं भीतर-भीतर बहुत डर गयी कि अब कुछ होनेवाला है। इसलिए सुन्दर से रोज कहती—कोई और चाल खोजो। मुझे यहां डर लग रहा है।...

'सुन्दर उलटे मुझे ही गाली देता और मस्ती से यह कहता हुआ बाहर जाता कि कलपू मेरा यार है, वह हमारी ताकत है !

'कलपू की ड्यूटी पहले दिन की थी लेकिन उसने जानबूझकर रात को लगवा ली। दिन को घूमता-घामता और काफी समय बरामदे में लेटा रहता, कोई फिल्मी किताब पढ़ता, मुझे घूरा करता। बार-बार किसी काम से भीतर आता और मुसकराकर मुझे देखता। धीरे-धीरे मुझसे बातचीत का सिलसिला बढ़ाने लगा, दुनिया-भर की बातें पूछता। मैं क्या करती, बोलना ही पड़ता।

'एक दिन वह जानबूझकर किन्तु अनजान बनकर मुझसे टकरा गया। मैं कुछ नहीं बोली। वह शायद समझा कि ठीक है। दूसरे दिन उसने कहा—भउजी, आप मुझे बहुत अच्छी लगती हैं। क्या सुन्दरता पाई है आपने !

'मैं कुछ नहीं बोली। चुपचाप सुन लिया।

'सुन्दर से कहा तो उसने कहा कि ठीक है सुन्दर तो तुम हो ही ! वह कौन झूठ बोलता है !…

'तो ठीक है, सुन लो, अब कुछ हो गया न तो मुझे दोष मत देना। तुम इतने नपुंसक होगे यह मैंने नहीं सोचा था।

'एक दिन कलपू ने मेरे गाल पर ठुनकी मार दी। मैं चुप रही। उसे बढ़ावा मिल गया। उसने बढ़कर मेरा हाथ पकड़ लिया। मैंने गुस्से में झाड़ दिया और कहा—कलपू बाबू, यह आपको शोभा नहीं देता।

'अरे भउजी, मुझे सब शोभा देता है ! दरअसल तुम्हारे जैसी सुन्दर स्त्री उसी आदमी के साथ शोभा देती है जिसके पास पैसा हो, जवानी हो, नाम हो। और मेरे पास सब कुछ है।

'तुम्हें शरम नहीं आती, अपने दोस्त की बीवी के साथ ऐसी हरकत करते हुए ? वे सुनेंगे तो क्या कहेंगे !

'वह ठठाकर हंसा था दोस्त है तभी तो उसे शराब पिलाता हूं। नौकरी दिलाता हूं। पैसे देता हूं। मकान दिए हुए हूं। आखिर कुछ उसका भी तो फर्ज होता है। वह सुनेगा तो क्या कहेगा ? जो दूसरों के फर्ज और एहसान से दब जाता है, वह कुछ कहने लायक नहीं होता।

'ओह, आप इतने गिरे हुए आदमी हैं ? मैं सुन्दर से कहती हूं कि यह घर छोड़कर नरक में चला चल।

'तुम्हें नरक में भी जगह नहीं मिलेगी भउजी ! अब कोई भी मेरे डर से तुम्हें अपने यहां नहीं रखेगा और मैं चाहूं तो कल ही सुन्दर राम को नौकरी से निकलवा दूं। अच्छा आज जाता हूं, सुन्दर से बात कर लेना। कल फिर आऊंगा।

'इतना बड़ा नरक का कीड़ा मैंने नहीं देखा था। औरतों से उसके बारे में सुना जरूर था। मैं तो उसके व्यवहार को देखकर दंग रह गयी।

'शाम को सुन्दर आया। कलपू आज ड्यूटी पर नहीं गया। सुन्दर के आते ही उसने कहा—यार सुन्दर, नहा-धो ले; चल, आज बाहर ही चाय-वाय पीते हैं। आज मैं भी थका हुआ लग रहा हूं, ड्यूटी पर नहीं जाने की इच्छा हो रही है। चल, उधर से कोई पिक्चर भी देखते आएंगे।

'चलता हूं, बस हाथ-मुंह धो लूं।

'मेरी इच्छा हुई सुन्दर को रोकूं, किन्तु जानती थी कि वह नहीं रुकेगा; उल्टे मुझे गाली सुनाएगा। कलपू की आज की हरकत सुन लेता तो शायद नहीं जाता। मैं उसे आज की हरकत न सुनाऊं, इसीलिए कलपू शायद ड्यूटी पर नहीं गया।

'कलपू सुन्दर को लेकर चाय की दुकान पर गया। वह चाय की दुकान के लौंडों और मालिक को बड़ी धौंस के साथ डांटता रहा। मालिक लौंडों को डांट-डांटकर कहता रहा—अबे साले, देख न, कलपू बाबू क्या मांगते हैं?—और लौंडे सारे ग्राहकों की उपेक्षा करके दौड़-दौड़कर कलपू के लिए सामान लाते रहे।

'वहां खा-पीकर निकले तो कलपू सुन्दर को लेकर एक ऐसी जगह पहुंचा, जहां कई पहलवान अखाड़े में कसरत कर रहे थे। कलपू को देखते ही सारे पहलवान दौड़े और उसका पांव छू-छूकर प्रणाम करने लगे। और सभी बारी-बारी से पूछते—कोई हुकुम उस्ताद !

'कुछ नहीं, कुछ नहीं, ऐसे ही आ गया।—कहकर वह सुन्दर की ओर देखता। सुन्दर चुपचाप सब कुछ देखता रहा।

'फिर वह सुन्दर को लेकर एक ऐसे मकान में पहुंचा जहां कुछ नेता

लोग थे। नेता लोगों ने बड़े प्रेम से कलपू से हाथ मिलाया और तमाम बातें करते रहे। यह भी सुना कि कतल कर दो साले को कलपू ! हम लोग तो हैं ही, देख लेंगे। कलपू ने हंसकर सुन्दर की ओर देखा। सुन्दर का जी सनसना गया।

'फिर वह शराबखाने ले गया। दोनों ने शराब पी। शराब बहुत नहीं पी थी; कुछ होश में थे, कुछ बेहोशी में थे। रास्ते में सुन्दर को लेकर कलपू बैठ गया और बोला—सुन्दर, आज तुम्हारी बीवी के साथ मैं सोऊंगा।

'क्या ?—सुन्दर चीखा।

'हां-हां, इतना चीखता क्यों है रे साला ?

'अरे साला, तू इतना गिरा हुआ है कि मेरी बीवी के साथ सोने की बात करता है ? यही तेरी दोस्ती है !

'चुप साले ! कहकर एक जोर का हाथ मारा—बड़ा आया है दोस्त बनने ! मैंने तुम्हें इतना कुछ दिया है। क्या तुम्हारा कोई फर्ज नहीं होता देने के लिए ?

'सुन्दर के मुंह से खून गिरने लगा था। उसे एक बार गुस्सा आया कि टूट पड़े कलपू साले पर। लेकिन उसके थप्पड़ का जोर देख चुका था और देख चुका था उन पहलवानों और नेताओं को जो उसके पीछे थे। वह यह भी देख चुका था कि सारा मोहल्ला उससे डरता है, कुछ हो-हवा गया तो कोई उसके साथ नहीं आएगा।

'अबे साले, खून पोंछ ले, क्या खून चुवाता घूम रहा है हिजड़े की तरह !···

'और वह सुन्दर को घसीटकर पास के किसी नल पर ले गया और कहा—धो ले अपना घाव और ले मेरा रूमाल, पोंछ ले।

'दोनों ही होश में थे अब।

'अबे देख सुन्दर, तू मेरा दोस्त है, तू साला एक मजाक पर घबरा गया ? दोस्त को दोस्त में विश्वास नहीं रहा। दोस्त तो दोस्त के लिए पता नहीं क्या-क्या करते हैं। अब तू घर जा, मैं कहीं और जा रहा हूं।

'सुन्दर घर आया। उसने सारी कहानी कही। और मैंने भी अपनी

कहानी सुनायी। वह बहुत घबराया हुआ था। उसने कहा—तुम ठीक कहती थीं, यह साला कलपुआ गुण्डा है। हम इसके चंगुल में फंस गये हैं। इसके खिलाफ कोई हमारा साथ देने नहीं आएगा।···

'चलो परदेशी के यहां चले चलते हैं।—मैंने कहा।

'नहीं, कोई भी इसके खिलाफ हमारी तरफदारी नहीं करेगा। और परदेशी की क्या औकात है ? बेचारा गरीब आदमी।

'अब भोगो। तब तो तुमने परदेशी को अपना दुश्मन समझा और इस गुण्डे को दोस्त, परदेसी तो तुम्हें लोफर लगा था। दिन-भर घर बैठकर मेरे साथ प्रेम से बातें करता था। यह कलपू शुरू से ही मुझे गुण्डा लगा था पता नहीं कैसे तुम्हारी आंख अंधरा गयी थी कि इसकी असली सूरत तुम्हें दिखाई नहीं पड़ी। ऐसी ओछी बातें तुम्हारी बीवी के बारे में कहता है; तुम कैसे बर्दाश्त कर लेते हो ?

'तो क्या करूं, उससे लड़ाई कर लूं ? मार खाने के लिए ? जब हम लोग घर से भागे हैं, तो न जाने कितनी-कितनी मुसीबतें झेलनी पड़ेंगी। मेरी भी मति मारी गयी थी कि अपना घर-दुवार छोड़कर तुम्हें ले भागा।

'तो अभी क्या बिगड़ा है, घर लौट जाओ। तुम लोगों का क्या बिगड़ता है ? दो-चार दिन भला-बुरा सुन लोगे, फिर ठीक हो जाएगा। बरबाद तो मैं हुई। अब तो जहां से छूटी हूं, वहां जाने का सवाल ही नहीं पैदा होता।···

'हां, और मेरा बड़ा सवाल उठता है न ? लौटने पर बाभन सब मेरी एक भी हड्डी सही-सलामत रहने नहीं देंगे। पता नहीं, मेरी बूढ़ी मां और छोटे भाई के साथ गांववाले क्या सलूक करते होंगे ?···

'अच्छा तो सो जाओ ! मेरे लिए फिकर करने की जरूरत नहीं। मैं जैसा ठीक समझूंगी करूंगी। फिर मुझको दोष मत देना।

'नहीं, नहीं, घबराओ नहीं, कोई न कोई उपाय करता हूं। अच्छा तो यही हो कि हम लोग कहीं और निकल चलें। लेकिन कहां ?···

'मैंने मन ही मन कुछ ठान लिया। अब और वेस्सा नहीं बनूंगी। अब तक जो बन लिया सो बन लिया। मेरे भीतर एक ब्राह्मण औरत का तेज धधक उठा। और मैं सारे डर-भय से परे हो गयी।

'दूसरे दिन जब सुन्दर चला गया तो दोपहर के समय कलपू आया। वह पिये हुए था। आते ही बोला—मैं कुछ बुरा हूं क्या साले सुन्दरवा से ? देखो, मैं तुम दोनों की परवरिश करूंगा। वो साला क्या खाकर तुम्हें संभालेगा ? यह जवानी, यह गदरायी हुई देह, यह···

'चुप हरामजादे !—मैं जोर से तड़पी।

'वह हंसा। और सिटकनी बन्द कर मेरी ओर आगे बढ़ा, उसकी पकड़ से बचने के लिए मैं दरवाजे की ओर बढ़ी कि झट से कोई आदमी बाहर से दरवाजा बन्द कर बैठा। शायद उसका साथी रहा हो।

'कलपू ठठाकर हंसा—कहां जाओगी ? कलपू ने इतनी कच्ची गोलियां नहीं खेली हैं ? मेरे आदमी चारों ओर हैं। और चिल्लाओगी तो भी कोई कलपू के घर में नहीं आएगा और सारा जुर्म तुम्हीं को लगेगा।

'मैं कमरे में भागती रही। वह खदेड़ता रहा। मुझे कुछ सूझा और मैं मुस्करायी। बोली—अच्छा कलपू प्यारे, अब और न सताओ ! मैं तुम्हारी हो गयी। अब आराम से बैठ जाओ, आराम से प्यार करो। क्या कोई अपने आदमी से इस तरह जबरदस्ती करता है !

'वाह, वाह, वाह, अरे क्या बात कही तुमने जानी ! अरे पहले ही यह कहा होता तो मैं क्यों घोड़े की तरह दौड़ता। अच्छा आओ।

'आप पहले खाट पर लेट जाइये, उधर मुंह करके। मुझे लाज आती है कपड़े उतारकर सामने आने में। मैं चुपचाप आकर बिस्तर में समा जाऊंगी। हां, मेरे प्यारे कलपू !

'अरे, इसमें कौन-सी बात है ! लो मैं लेट गया, उधर मुंह करके···'

'बहुत अच्छा, इधर ताकना मत, नहीं तो मैं खाट के पास से लौट जाऊंगी।

'मैंने पहले से ही तैयारी कर रखी थी और मौका पाते ही कलपू की टांगी उठाकर उसी की गर्दन पर दे मारी। एक भयानक चीख निकली उस हरामी के मुंह से। कलपू का आदमी बाहर बैठा हुआ था। आवाज सुनकर वह सांकल खोलकर तेजी से अन्दर आया और कलपू का कटा हुआ सिर देखकर चिल्लाया—अरे बाप रे !—और बदहवास होकर भागा। पता नहीं मेरा क्या रूप बन गया था; जो भी आता, मुझे देखकर डर

जाता । मैं वहीं गुमसुम खड़ी थी, शायद मेरी आंखों से आग निकल रही थी । मेरे चेहरे पर भयानक घिन और गुस्सा फैला हुआ था ।

'देखते-देखते भीड़ जुट गयी । सब लोग मुझे देखकर डरने लगे । पता नहीं कितनी-कितनी बातें इधर-उधर रेंगने लगीं । मुझे कुछ होश नहीं था ।

'थाना-पुलिस, अहलवान-पहलवान, और न जाने कौन-कौन इकट्ठे हो गये । मैं पुलिस की हिरासत में ले ली गयी । मेरा कौन था । कई दिन बीत गये, सुन्दर भी मिलने नहीं आया । पुलिस ने खुद पूछा—तुम्हारा मरद सुन्दरवा साला कहां चला गया ? मिलता ही नहीं । बता, कहां जा सकता है ?

'मुझे क्या मालूम ? जब यह वाकया हुआ तो फैक्टरी गये थे । उसके बाद का मुझे क्या पता ?

'अरे, उसी दिन से वह लापता है । वह घर आया ही नहीं । फैक्टरी से भी लापता है ।

'मैं समझ गयी कि उसे किसीने खून का वाकया फैक्टरी में ही बता दिया होगा और वहीं से वह भाग खड़ा हुआ । मैं इस दुनिया में निपट अकेली थी । कहीं कोई आगे-पीछे नहीं था, इसलिए मैंने पुलिस के सामने कबूल कर लिया कि हां, मैंने खून किया है; क्योंकि वह मेरी अस्मत लूटना चाहता था ।

'लेकिन मेरे इतना साफ-साफ बोलने पर भी पुलिस की जिरह नहीं रुकी, और तरह-तरह की बातें पूछती रही—तुम्हारा घर कहां है ? वहां कौन-कौन हैं ? लोग क्या-क्या करते हैं ? और तमाम वाहियात बातें ।

'मैंने उनके जबाब में यही कहा—मेरा इस दुनिया में कोई नहीं है, और जो था वह भी मुझे छोड़कर भाग गया । और मैं जहां इस समय हूं, उसी को मेरा घर समझो !

'दारोगा रस ले-लेकर पूछता था—वह कब से तुम्हारे पीछे था ? उस दिन तुम्हारे साथ क्या कर रहा था, क्या-क्या पकड़ा था ? तुम किस पोजीशन में थीं और वह किस पोजीशन में था ?···

'मेरी आंखों में खून उतर आया था लेकिन मैं क्या करती ? कुछ बोली नहीं ।

'देखो, अगर तुम कुछ बताओगी नहीं, तो तुम्हारा यह कहना सही नहीं साबित हो सकेगा कि तुमने अस्मत लूटने से बचने के लिए उसका खून किया है।

'मुझे साबित करना भी नहीं है। मुझे फांसी होगी न ! मैं फांसी ही चाहती हूं। मुझे यह घिनौनी जिन्दगी नहीं जीनी है। मैं जिन्दा नहीं रहना चाहती, क्योंकि मुझे खुद अपनी जिन्दगी से कोई मोह नहीं रहा।

'पता नहीं कितने लोग आते रहे, जाते रहे, शायद कलपू के यार-दोस्त रहे, नेता रहे। लोग मुझे देखते, भय खाते, मुस्कराते और बोलियां बोलते। सबको विश्वास था ही कि मेरे आगे-पीछे कोई नहीं है, फांसी होनी ही है, इसलिए लोगों को पुलिस पर बहुत जोर भी नहीं मारना पड़ रहा था। वैसे पुलिस भी तो भीतर से उन्हीं लोगों की थी।

'मुकदमा चला। मुकदमा क्या चलना था। मुझे कोई वकील करना नहीं था। मैंने कचहरी में भी कबूल कर लिया कि मैंने इस पापी को मारा है। यह मेरी अस्मत लूटना चाहता था।···

'लेकिन बाबू, पता नहीं क्यों बात का बतंगड़ बना दिया गया। सीधी-सी सही बात थी, उसे इतना लपेटा क्यों गया, मुझे नहीं मालूम। एक काले कोटवाला वकील जोर-जोर से चिल्ला रहा था कि तुम झूठ कहती हो। वह तुम्हारी अस्मत नहीं लूटना चाहता था, वह समाज में इज्जत पाने वाला इंसान था, वह सबकी भलाई करता था, उसने तुम्हारे आदमी को फैक्टरी में नौकरी दिलाई। उसने तुम लोगों को अपने घर में जगह दी और खुद जाकर एक दोस्त के यहां रहने लगा। जब तुम लोग भूख से मर रहे थे, तब उसने तुम लोगों को पैसे दिये। ऐसे नेक इन्सान का एहसान मानने के बदले तुमने उसका खून किया, इसलिए कि उसे अब अपने घर की जरूरत थी और तुम लोगों से घर खाली करने के लिए कह रहा था, और तुम लोग उसके घर पर अपना कब्जा जमाने की कोशिश कर रहे थे।···

'यह झूठ है !—मैं चिल्लायी।

'हां, यह झूठ है। और यह भी झूठ है ?—कहकर उसने जज से कहा—हुजूर, मुझे गवाह को हाजिर करने की आज्ञा दी जाय।

'जज के हुकुम पर एक गुण्डा जैसा आदमी हाजिर किया गया। उसी वकील ने चीखकर मुझसे पूछा :

'इसे पहचानती हो ?

'मैं इसे क्यों पहचानूं ?

'हुजूर, यह वही आदमी है, जो अक्सर इस औरत से मिलने के लिए आता रहता था। इस औरत का मर्द दिन में काम पर चला जाता था, और कलपू यहां-वहां लोगों की सेवा में भटकता रहता था। घर सूना पाकर यह इस औरत से मिलने चला आता था। इसके साथ इस आदमी के नाजायज सम्बन्ध बन गए थे। जब कलपू ने सुना, तो उसने इस औरत को मना किया कि देखो, यह भले आदमी का घर है, ऐसा मत करो ! लेकिन जब यह नहीं मानी तो उसने इसके पति से कहा और यह भी कहा कि घर खाली कर दो। मर्द ने इसे बहुत पीटा। और बात वढ़ती गयी। इसी बात का बदला लेने के लिए एक दिन इसने कलपू को धोखे से काट दिया।···'

'यह झूठ है !—मैं जोर से चिल्ला पड़ी और उस वकील की ओर गुस्से-भरी आंखों से देखने लगी।

'वकील जोर से डपटा—चीखो नहीं, यह अदालत है !

'तो तुम क्यों चीख रहे हो ?—मारे गुस्से के मैं बोल पड़ी।

'लोग हंसने लगे।—ऑर्डर-ऑर्डर—जज मुंगरी ठोककर चिल्लाए।

'अब वकील उस गुण्डानुमा आदमी से जिरह करने लगा :

'तुम्हारा नाम ?

'गजराज।

'पेशा ?

'मिल में नौकरी।

'बोलो, इस औरत को जानते हो ?

'हुजूर, मैं ही नहीं इस औरत को जानूंगा ?—कहकर वह एक गन्दी हंसी हंसा।

'तुम्हारी जान-पहचान कब से है ?

'यही दो महीने से।

'बोलो, तुम्हारा क्या संबंध है इस औरत से ?

'हुजूर, अब क्या बताऊं ! वे सब बातें यहां नहीं कही जा सकती हैं। बस समझिए, हम दोनों एक ही हैं !

'लोग हंस-हंसकर रस ले रहे थे।

'मेरे हाथों में हथकड़ियां बंधी थीं। अगर मेरे हाथ खुले होते और वहां कोई चीज होती तो जरूर उसे उठाकर मैं उसे या उस वकील को मार बैठती। मेरा गुस्सा भीतर-भीतर उफन रहा था।

'हुजूर, बात साफ हो गयी कि यह औरत बदचलन है; और इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि इसका पति इसकी गिरफ्तारी की खबर पाकर भाग गया, वह भी इससे तंग आ गया था।

'बदचलन होगी तेरी मां, तेरी बहन ! ओ हरामजादे, काले कोट वाले, मैलाखोर सूअर की औलाद ! तेरे मन में औरत के लिए कोई इज्जत-मरजाद नहीं है ! तू निहायत झूठ बोलनेवाला, गिरा हुआ आदमी है। सुनती थी कि वकील झूठ बोलते हैं।

'लोग हंसने लगे और एक तहलका-सा मच गया। मैं दोनों हाथ उठा-उठाकर वकील की ओर झपटने लगी। पुलिस मुझे डपटती हुई काबू में करने की कोशिश करती रही। मैं अपने काबू से बाहर हो गयी थी। मैं फिर चिल्लायी :

'हुजूर, मुझे फांसी दे दीजिए, शेर-चीते के सामने डाल दीजिए। लेकिन इस काले कोटवाले जानवर के पास से मुझे हटाइए। इससे मुझे बदबू आ रही है। और यह गन्दा आदमी, जो अपना नाम गजराज बता रहा है, इसी वकील का किराए का आदमी है। मैंने कभी इसकी शकल भी नहीं देखी है !

'और मैं जोर-जोर से रोने लगी। इतनी बड़ी भीड़ में कोई भी तो अपना नहीं था जो मुझे सहारा देता।

'उस दिन अदालत बरखास्त कर दी गयी। और एक दिन फैसला हो गया और मुझे दस साल कैद की सजा हो गयी।

'जेल में जाकर मैं निश्चिन्त हो गयी। कोई चिन्ता नहीं…न खाने की न पीने की, न मकान की न नौकरी की। और आस-पास के कलपू-

जैसे शरीफ भेड़ियों से, और तरह-तरह की कानाफूसी करती-घूरती आंखों से बच गयी। यह दुनिया भी अजीब थी, तरह-तरह की औरतें यहां जमा थीं। एक से एक बीहड़। कोई खून करके आयी थी, कोई चोरी के जुर्म में आयी थी और तरह-तरह के जुर्म थे। कभी-कभी सब आपस में खूब लड़ती थीं लेकिन अजीब बात थी कि यहां डर नहीं लगता था जैसाकि बाहर लगता था।

'मैंने दस साल काटे, इस नयी दुनिया में। कैसे काटे, यह एक अलग कहानी है नरेश बाबू!'

भउजी चुप हो गयीं, जैसे कुछ भीतर अटक रहा हो; फिर खांसने लगीं, जोर-जोर से खांसने लगीं। जब से स्टेशन पर मिली थीं तभी से रह-रहकर खांस रही थीं। कहानी के बीच-बीच में खांसती थीं, चुप हो जाती थीं और फिर कहानी कहती थीं। लेकिन इस बार देर तक खांसती रहीं। खांसते-खांसते उनकी सांस टंग जाने लगी। पूरा जर्जर हृदय खांसी के आवेग में चरमरा रहा था, जैसे अब गिरा तब गिरा। मैंने भउजी की पीठ सहलायी। थोड़ा पानी पिलाया, तब जाकर खांसी थोड़ा रुकी।

'हां बाबू', थोड़ा संभलकर भउजी बोल पड़ी।

'नहीं भउजी, नहीं, जरा सुस्ता लीजिए, तब कहानी कहिएगा।'

'लेकिन गाड़ी?'

'गाड़ी जाने में अभी दो घंटे की देर है।' मैंने घड़ी के रेडियम के प्रकाश में समय देखकर कहा।

'बाबू, तुम सुरती तो नहीं खाते होगे?'

'नहीं भउजी, क्यों? तुम खाती हो क्या?'

'हां, जेल में यह लत भी लग गयी, बल्कि लगा दी गयी।'

'मैं तो नहीं खाता, लेकिन मैं जाकर किसी से मांगकर लाता हूं।'

'अरे नहीं, कहां जाओगे बाबू? मैंने तो यों ही कहा था।'

'नहीं भउजी, बगीचे के उस पार एक सुरती खानेवाला अपने खेत में सोता है। अभी मांगकर ले आता हूं। बस गया और लेकर आया।'

और जब सुरती लेकर लौटा तो भउजी वहां नहीं थीं। मैंने धीरे-धीरे पुकारा भी लेकिन कोई उत्तर नहीं मिला। मैं समझ गया कि वे चली

गयीं, शायद सुरती भी मुझे हटाने का बहाना रही हो। अगर वे सुरती खाती होतीं तो या तो अपने पास रखतीं या बहुत पहले ही उसकी चर्चा की होती। यह सोचकर भी अच्छा लगा कि भउजी सुरती नहीं खाती होंगी।···

भउजी चली गयीं। स्टेशन ही गयी होंगी, उन्हें पकड़ सकता हूं लेकिन पकड़कर क्या करूंगा? आखिर उन्हें जाना तो है ही। उन्हें रोककर कहां रखा जाएगा? कहां है उनका घर-द्वार?

मैं चुपचाप रजाई लपेटकर लेट गया और भउजी की अधूरी कहानी मेरी कल्पना में अपनी अदृश्य तस्वीरें बनाती रही। एक बहुत लम्बी, अनदेखी कहानी जैसे अपनी अनेक सम्भावित विभीषिकाओं के साथ मेरे भीतर उभर रही थी। नींद नहीं आ रही थी। खैर, कोई बात नहीं, कल रविवार है।

न जाने कब नींद आयी और जब नींद टूटी तो सवेरा हो चुका था। जल्दी-जल्दी घर की ओर भागा तो रास्ते में भीड़ देखकर उसी ओर बढ़ गया।

'क्या है, क्या है?' कहता हुआ मैं नारायण भइया के पास चला गया।

'अरे भाई नरेश, पता नहीं यह कौन औरत मेरे खेत में मरी पड़ी है। कौन है, कहां से आयी है? अब इसका क्या किया जाए?'

'भउजी!' मैं मन ही मन बुदबुदाया। वे कम्बल लपेटे चित्त पड़ी थीं। उनकी दोनों मुट्ठियों में खेत की मिट्टी बंधी हुई थी। यात्राओं की अनन्त-विषम रेखाओं से खिचे-पिटे उनके चेहरे पर अपूर्व शान्ति थी। आखिर वे अपनी मंजिल पा ही गयीं। जिसे आदमी नहीं रोक सका उसे मिट्टी ने अपनी गोद में रोक लिया। मेरा मन एक अद्भुत तृप्ति से भर उठा। मन हुआ चिल्ला उठूं कि नारायण भइया, यह तुम्हारी बहू है सुहागी! नदी की तरह ठोकरें खाती हुई, तुम्हींमें विलीन होने के लिए चली आयी। लेकिन मैंने संयम किया कि नहीं, लोग अभी इस औरत पर थूकने लगेंगे। यात्रा का इतना पवित्र अन्त एक गन्दे कोलाहल में बदल जाएगा। सोने दो भउजी को शान्ति की नींद!

'अरे भाई, क्या करना है इस लाश का?' नारायण भइया चिल्ला

रहे थे।

'भइया, यह कोई भी हो, है तो आदमी ही! इसकी भटकी हुई रूह को तुम्हारे खेत ने शरण दी है। अब तुम्हारा धर्म है, इसे अपने हाथों से उठाओ और अग्नि की गोद में समर्पित करो। और सूरज बेटे, तुम भी इस शव को हाथ लगाना।'

'लेकिन यह कैसे हो सकता है? एक अनजानी लाश को हम कैसे फूंक सकते हैं? थाना, कचहरी और इसके घरवाले हमें जिन्दा छोड़ेंगे?'

'हां, इसका इन्तजाम तो करना ही पड़ेगा।'

थाना पास में ही था। वहां इत्तला कर दी गयी। थानेदार आए, उन्होंने लाश की तलाशी ली। एक चिट्ठी मिली, 'इस दुनिया में मेरा कोई नहीं है। मैं जहां कहीं मरूं, मेरे सगे-सम्बन्धियों की खोज न की जाए।'

थानेदार ने लाश फूंकने की इजाजत दे दी। न जाने क्या हुआ कि मुंहामुंही यह बात फैल गयी कि यह किसी तपस्विनी की लाश है। इसे अमुक-अमुक जगह देखा गया था। बड़े धूमधाम से शवयात्रा हुई। लाश को कन्धा देनेवालों में नारायण भइया थे, सूरज था, मैं था और बारी-बारी से कई लोग थे।

रात को मैं अपने खेत की उसी झोंपड़ी में सोने आया। कटे पेड़ की तरह बिस्तर पर गिर पड़ा। सारा परिवेश भउजी की ममता-भरी गन्ध से भरकर तड़पने लगा।···भउजी को तो उनकी मंजिल मिल गयी थी लेकिन मैं भटक गया था। भउजी की पहचान छिपाए हुए मैं भीतर ही भीतर घुट रहा था···क्या मैंने एक पति को उसकी पत्नी और एक पुत्र को उसकी मां मिल जाने के अहसास से वंचित नहीं कर दिया? शायद किया, शायद नहीं किया।···संन्यासिनी के रूप में नहीं, मैं भउजी को भउजी के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहता था; लेकिन क्या यह सम्भव हो पाता?···मैं फिलहाल किसी फैसले पर नहीं पहुंच पा रहा हूं। लेकिन मन ही मन निश्चय करता हूं···किसी दिन, किसी पत्रिका में इसे छपवाऊंगा जरूर। आदमी से आदमी की कहानी को छिपा लेना नैतिक अपराध है।

पराया शहर

छायाएं···छायाएं···छायाएं···

वह खुले द्वार से देख रहा था—बरामदे से गुजरते हुए छात्र, कॉलेज के एक कमरे से दूसरे कमरे तक जाते हुए प्राध्यापक, कॉलेज कम्पाउण्ड में तैरती-ठहरती कारें, चलती-फिरती आकृतियां···वह किसी को नहीं पहचानता, बस देखता रहता है। बुखार में है वह कल से ही। चार-पांच रोज पहले ही तो इस नगर में आया है। नामहीन इस भीड़ के किनारे वह पड़ा-पड़ा कराह रहा है, कल से ही। जुलाई का भारी-भारी दिन सरकता-सरकता किसी तरह, घड़ी की छोटी सुई की तरह थोड़ा आगे बढ़ जाता है जैसे उसके ऊपर एक बड़ी चट्टान झुकी हुई है; अब गिरे तब गिरे। कल से ही उसके कमरे में कोई नहीं आया। कॉलेज का एक कर्मचारी कल सुबह आया था, कुछ गोलियां दे गया था। शाम को आकर एक सुई लगा गया था जैसे उसकी बांह में एक नुकीला पत्थर घुसेड़ दिया हो। बांह अब भी बुरी तरह दर्द कर रही थी। वह शायद कॉलेज का मिस्त्री है; आदमी को भी कोई मशीन ही समझता है।

नामहीन आकृतियां ही आकृतियां···उसे तो अहसान मानना चाहिए इस मिस्त्री का कि वह आता तो है और पत्थर की नोक घुसेड़कर उसके दर्द को एक नया मोड़ तो देता है। यह क्या कि चौबीसों घंटे एक-सा ही दर्द झेलते रहो !

उसे तेज फ्लू है। बुखार एक सौ दो डिग्री तो होगा ही। एनासीन या कोडोपायरिन या कोई और टैब्लेट मिल जाती तो शायद कुछ कम होता, सिर-दर्द से कुछ राहत मिलती। किसे बुलाए वह ? किसी को नहीं जानता।

बस पड़ा-पड़ा कराह रहा है; और गाते हुए, शोर करते हुए छात्रों की अनाम भीड़ द्वार के पास से बही जा रही है।

वह अभी ही तो यहां आया है। उसका परिवार दूसरे शहर में है। प्रिंसिपल ने उसे होस्टल में रहने की जगह दे दी है एक दूसरे बैचलर लेक्चरार के साथ। वह जब से यहां आया है तभी से मकान खोज रहा है। नौकरी के सिलसिले में जिस दिन प्रिंसिपल से मिलने आया था, उसी दिन लौटते समय जोर की बारिश आ गई थी। वह एक निचाट मैदान में एक पेड़ के नीचे खड़ा-खड़ा काफी देर तक भीगता रहा था। पास के मकानों के बरामदों में खड़े लोग वर्षा का आनन्द लेते हुए उसका भीगना निर्लिप्त भाव से देखते रहे थे। पराया शहर, भला वह किसी के यहां कैसे जाता! वह बुरी तरह भीग गया था और उसी रूप में उसे चालीस मील की यात्रा करके अपने पहले शहर में जाना पड़ा था। सारा पानी उसके भीतर समाकर भयंकर सर्दी बन गया था और वह लौटकर उसी सर्दी में दिन-दिनभर मकान खोजता रहा था। और फिर एक दिन सर्दी फ्लू बन गई।

फ्लू···! बाप रे बाप, यह तो छूत का रोग है। साथ के बैचलर लेक्चरार भाग खड़े हुए। प्रिंसिपल ने उसे दूसरे कमरे में डाल दिया। हां, वह अपना फ्लू किसी को क्यों दे? वह इस मिस्त्री का आभारी है, जो सुबह-शाम उसका फ्लू लेने उसके पास चला आता है। आज सवेरे भी वह आया था। कुछ गोलियां दे गया है लेकिन उसकी सुई और दवाओं से कुछ लाभ नहीं होता। कोई कोडोपायरिन ला देता!···उसे चाय पीने की भी इच्छा हो रही है। लेकिन किसे पुकारे? किसी को जानता नहीं। कुछ लड़के गुजरते हैं तो झांकते हैं—जंगलों के रास्ते। उसकी इच्छा होती है, उन्हें पुकारकर रोक ले लेकिन जब तक वह निर्णय लेता है वे सब सरक जाते हैं।

वह पीछे की खिड़की से बहुत देर से झांक रहा है। आकाश में उठी हुई चिमनियां ही चिमनियां, बल खाता हुआ धुंआं, ऊंची-ऊंची कोठियां, होस्टल और कोठियों के बीच दूर तक बिछा हुआ एक सन्नाटा जो कुछ जंगली पौधों की झाड़ियों और बबूल के पेड़ों से यहां-वहां कट गया है। शायद शहर हो। शायद, शायद, क्योंकि वह अभी तक शहर के भूगोल

से परिचित नहीं है, दिशाओं को नहीं पहचान सका है । चिमनियां ढेर की ढेर लेकिन वह किसी का नाम नहीं जानता । उसके लिए तो ये बस चिमनिया हैं जिनमें से एक-सा धुआं निकलता रहता है। ये बस कोठियां हैं, जिनमें एक-से लोग रहते हैं। बीच का सन्नाटा···हां, उसे वह पहचानता है। वह अपने और शहर के बीच बिछे सन्नाटे को कब से पहचान रहा है।

'हलो !'

वह चौंक जाता है। देखता है कि उसके सामने एक डॉक्टरनुमा व्यक्ति खड़ा है···

'यू आर प्रो० पंकज, है न ?'

'यस, डॉक्टर !'

'आपके प्रिंसिपल साहब का फोन आया था कि मैं आपको देख जाऊं।'

तो प्रिंसिपल साहब ने मेरे लिए डॉक्टर बुलाया है ? शहर का डॉक्टर से कितना गहरा सम्बन्ध है ! शहर में आते ही मेरा पहला पाला डॉक्टर से ही पड़ा। बीमारी, शहर और डॉक्टर में कितना गहरा रिश्ता है ! पंकज सोच ही रहा था कि डॉक्टर ने थर्मामीटर लगा दिया···एक सौ दो डिग्री··· फ्लू···!

डॉक्टर इन्जेक्शन ठीक करने लगा।

'तो आप इन्जेक्शन लगाएंगे ?"

'हां, इससे बीमारी जल्दी ठीक होगी।'

'डॉक्टर, इन्जेक्शन तो बहुत दुख रहा है इस बार। कल ही तो लगवाया था।···'

'किससे ?'

'कॉलेज के एक मैकेनिक हैं।'

'ओह, मिस्टर जोजफ से ?" डॉक्टर जोर से हंसा।

'हां, शायद यही नाम है।'

'प्रोफेसर पंकज, मैं डॉक्टर हूं, मैकेनिक नहीं ! मैं मशीन और आदमी में फर्क करना जानता हूं।'

पंकज बुखार में भी हंस पड़ा, 'थैंक यू डॉक्टर, मुझे तो अभी तक यही अनुभव रहा है कि डॉक्टर भी आदमी और मशीन में फर्क नहीं करते।'

डॉक्टर मुस्कराया और अपना बैग समेटते हुए बोला, 'पे कौन करेगा, आप या कॉलेज ?'

'ओह, यह तो मैं खुद नहीं जानता मगर आपका पेमेण्ट हो जाएगा। डोण्ट वरी !'

'ऑल राइट,' कहकर डॉक्टर ने बैग संभाला और चला गया।

फिर कोई दूसरा आया-गया नहीं। वह उसी प्रकार खिड़की से उतरती छायाएं देखता रहा। उसने पिछली खिड़की से शहर की ओर देखा, दूर-दूर तक फैले हुए मकान···इन्हीं मकानों में से कोई मकान उसके लिए भी होगा··· कितना घूमा है वह, उसकी तलाश में ! इस बीमारी में वह कहां जाए, कैसे खोजे ? मकान की खोज की ही तो यह उपलब्धि है।

उसका जी घबड़ा रहा है, उफन रहा है···पत्नी किस अवस्था में होगी ? जब से आया, उसने घर चिट्ठी नहीं लिखी। घर ? हां, घर ? कहां है घर उसका ? उसका घर तो एक दूसरे प्रदेश के गांव में है, सैकड़ों मील दूर। वहां उसके अपने खेत हैं, बारी है, मकान है, बड़ा परिवार है; लेकिन उस घर से टूटे हुए तो कितने दिन हो गए। वहां जाता है तो एक अजनबी की तरह। अब वह घर घर नहीं लगता। नहीं, वह लौटकर अब वहां नहीं जा सकेगा। उसके बाल-बच्चे अब एक शहर से दूसरे शहर तक घूमेंगे और उनकी अपनी कोई जमीन नहीं होगी। चलो अच्छा हुआ, उन्हें किसी जमीन से लगाव और उससे उखड़ने का मोह तो नहीं होगा। वह तो जमीन से लगकर भी उससे उखड़ा हुआ है। कितना अद्भुत लगता है यह सोचना कि अब वह लौटकर गांव नहीं जाएगा। अब तो किराये के बदलते हुए घर ही उसके घर हैं और वह जिस घर को अभी याद कर रहा है···वह यहां से चालीस मील दूर एक दूसरे शहर में है। यह शहर तो पराया है किन्तु वही शहर कौन उसका अपना हो सका ! एक अजीब-सी सीलन है उस शहर में। एक सीलन-भरी गंध उसे निगलती रहती जैसे जाड़े की कई दिन की जमी हुई बदली उसमें फंस गई हो। बड़ी मुश्किल से वहां एक मकान मिला था कि छूट गया और अब नये शहर में फिर एक मकान की तलाश है। तलाश ही तलाश !··· लेकिन अभी उस मकान से सम्बन्ध टूटा कहां

है ! अभी तो उसकी पत्नी, दो छोटे-छोटे बच्चों के साथ उसी मकान में रह रही है । कॉलेज का मकान है । जल्द से जल्दी खाली करना ही पड़ेगा । न भी करना पड़े तो इन दो छोटे बच्चों के साथ पत्नी वहां अकेली कब तक रह सकती है ? और उसका नवां महीना चल रहा है । पता नहीं, कब क्या हो जाए ! वह कैसे क्या-क्या करेगी ? उसकी तबीयत वैसे ही ठीक नहीं रहती । कैसे कामधाम चलता होगा ? मकान तो ढूंढ़ना ही पड़ेगा ।

उसने घड़ी देखी । अभी दो ही बजे हैं । दिन तो मानो जमकर बैठ गया है, सरकता ही नहीं । सोचते-सोचते उसे नींद आ गई ।

नींद खुली तो देखा, प्रिंसिपल एक दूसरे प्राध्यापक के साथ आकर खड़े थे ।

'हाउ आर यू, प्रो० पंकज ?'

'कुछ ठीक हूं, सर ! डॉक्टर आए थे । इन्जेक्शन दे गए हैं ।'

'आल राइट, डॉक्टर त्रिवेदी आपके लिए खुशखबरी लाए हैं ।'

पंकज ने जाना कि साथ के सज्जन प्रो० त्रिवेदी हैं । उसने उत्सुकता की दृष्टि से उनकी ओर देखा ।

डॉ० त्रिवेदी एक खास अदा से हंसे और बोले, 'बात यह है प्रो० पंकज, कि मैंने अपने आने वाले एक सहयोगी के लिए एक मकान लिया था । उसका एडवांस भी 'पे' कर दिया था लेकिन वह आए नहीं । आपको वह मकान मिल सकता है ।'

'थैंक यू डॉक्टर त्रिवेदी, आपने मेरा भार हलका कर दिया···अब मैं अपनी फैमिली ला सकता हूं न ?'

'श्योर, श्योर,' डॉक्टर त्रिवेदी फिर हंसे ।

'ओ० के०, प्रो० पंकज, टेक रेस्ट !' और प्रिंसिपल चले गए ।

सवेरे पंकज उठा तो तबीयत काफी हल्की थी ।

'हलो प्रोफेसर, हाउ डू यू फील नाउ ?' सामने मिस्टर जोजफ खड़े थे ।

'फाइन, डॉक्टर जोजफ !' पंकज उन्हें डॉक्टर कहते समय मुस्करा पड़ा । जोजफ जाने की मुद्रा में बोले, 'कोई काम ?'

'चाय-वाय मिल सकती है क्या ?'

'श्योर-श्योर ! हम अभी बोलता है, कैंटीनवाले से ।'

पंकज चाय की घूंट कड़वे गले के नीचे उतार रहा था कि एक चपरासी आकर एक टेलीग्राम रख गया :

'वाइफ इन लेबर।'

ओह, क्या वह घड़ी आ गई है ? वह एकाएक परेशान हो उठा। दो छोटे-छोटे बच्चों को छोड़कर वह कहां जाएगी ? कैसे क्या करेगी ? डिलिवरी के लिए किसी नर्सिंग होम में सीट भी तो नहीं रिजर्व कराई है। बच्चे कहां जाएंगे ?···शायद कोई पड़ोसी कृपा करके कुछ दौड़-धूप कर दे। उससे उठा तो जाता नहीं। फिर भी वह उठा, बाथरूम गया और हांफकर बैठ गया।

नहीं, जाना ही होगा। दस बजे गाड़ी जाती है। मगर कैसे जाएगा ? नहीं, जाना ही होगा। पता नहीं, तनु किस अवस्था में होगी। वह प्रिंसिपल को कैसे सूचित करे ? कोई सवारी कैसे मंगाए ?

एक लड़का झांकता हुआ जा रहा था कि पंकज ने उसे पुकारा, 'सुनो।'

वह द्वार खोलकर अन्दर आया।

'मेरे लिए कोई ऑटोरिक्शा मंगा सकते हो क्या ? और जरा प्रिंसिपल साहब को सूचित करना है कि मैं दो-एक दिन की छुट्टी पर जा रहा हूं।'

'अच्छा, अच्छा साहब, हो जाएगा।'

पंकज सोचने लगा कि लोग अजनबी-से लगते जरूर हैं लेकिन उतने बुरे नहीं हैं।

पंकज ऑटोरिक्शे से उतरकर डगमगाते कदमों से घर में घुसा तो उसे लगा जैसे कोई अपराधी घुस रहा हो। घर खामोश था। पत्नी खाट पर चुपचाप लेटी थी। दोनों बच्चे मां के पास बैठे-बैठे बासी पावरोटी के टुकड़े चबा रहे थे और उसे देखते ही पप्पा-पप्पा चिल्ला उठे। तनु ने लेटे-लेटे सिर घुमाकर पंकज की ओर देखा। एक फीकी हंसी उसके चेहरे पर तैर गई। चौंककर वह बोली, 'अरे, आपको क्या हो गया ?'

पंकज धम्म-से पत्नी की खाट पर बैठ गया, 'ठीक तो हो तनु ? मैं तो तार पाकर घबरा गया था।'

'हां, कई दिन से पड़ी हूं। आज जब दर्द बहुत बढ़ गया तो लगा कि समय आ गया है। पड़ोसी ने कृपा करके तार दे दिया। कई दिन से बच्चे पावरोटी के टुकड़े और बिस्कुट चबा रहे हैं···और मुझे घेरकर उदास बैठे रहते हैं। लेकिन आपको?'

'हां, यहां से जाते ही मुझे फ्लू हो गया। तभी से पड़ा था। आज सुबह ही बुखार उतरा है और तभी तुम्हारा तार···'

दोनों जैसे एक सीलन-भरी चुप्पी में डूब गए। दोनों की आंखों में मौन भाव से वेदना उतर आई जैसे जो कुछ हुआ उसे होना ही था।

तनु रह-रहकर हांफ रही थी। उसके फूले हुए पेट को सहलाते हुए पंकज बोला, 'अभी कितने दिन और हैं?'

'दिन? मुझे तो लगा, आज ही सब हो जाएगा। वैसे मेरे हिसाब से पंद्रह-बीस दिन की देर है।'

'चल सकोगी?'

'आज?'

'हां, आज या कल?'

'सकोगी का क्या सवाल है···चलना तो है ही! मकान मिल गया?'

'मिल-सा ही गया है।'

'ठीक है,' कहकर तनु कुछ बेचैन-सी हो उठी।

'क्यों, क्या है?'

'कुछ नहीं। कुछ खाने-पीने की···।'

'नहीं, मुझे भूख अभी कहां! अभी तो मुंह इतना तीता है कि···'

'तो भी क्या? बच्चों ने कई दिन से खाना नहीं खाया।'

वह उठने लगी। पंकज ने उसे पकड़कर लिटा दिया। 'तुम लेटी रहो तनु, मैं खिचड़ी बना दूंगा।'

तनु मुस्कराई जैसे कहना चाहती हो कि अब तो वह स्वस्थ अनुभव कर रही है, क्योंकि आप जो आ गए।

वह उठ बैठी, स्टोव जलाया।

'चलो, मिलकर खिचड़ी बनाएंगे, तनु।'

'जब खिचड़ी ही बनानी है तो मिलकर क्या?'

'नहीं-नहीं, खिचड़ी तो मिलकर ही बनानी चाहिए। मिली-जुली चीज है न!'

दोनों धीरे से मुस्करा पड़े।

'बच्चे कहां गए तनु?'

'बाहर खेल रहे होंगे। आपको देखकर थोड़े हल्के हो गए लगते हैं। नहीं तो घिरे-घिरे मेरे पास ही बैठे रहते थे।'

दोनों के मिलने से कमरे का कई दिन का ठहरा हुआ बीमार सन्नाटा सरकने लगा।

'आज चलोगे या कल?'

'आज तो आया ही हूं। पांव कांप रहे हैं, जोड़-जोड़ में दर्द है, हिम्मत नहीं है। कल चलेंगे!'

तनु ने कहना चाहा कि कुछ दिन और रुक जाओ तब फिर आकर ले चलना लेकिन नहीं कह सकी। वह जानती थी कि यह कहना झूठ होगा। वह यहां अकेले कैसे रहेगी?

'फिर कैसे चल पाएंगे, कल भी? इतना भी तो सामान है। इसे पैक करना, स्टेशन लिवा ले जाना, लदवाना, उतरवाना और दुनिया-भर की झंझटें···' तनु ने खिचड़ी परोसते हुए कहा।

'हां, यह तो है तनु···! सकने, न सकने के बीच और कुछ है नहीं।'

और दोनों ने यह मान लिया कि जो होना है, उस पर बहस करना बेकार है।

'एक बात हो सकती है,' पंकज बोला।

'क्या' की मुद्रा में तनु ने देखा।

'हम थोड़ा-सा आवश्यक सामान ले चलें। फिर दस-पांच दिन बाद आकर मैं बाकी सामान ले जाऊंगा।'

'अकेले तुम्हें परेशानी होगी।' कहना चाहकर भी वह नहीं कह सकी। हां, जो होना है उसे होना है, कहा-सुनी बेकार है!

दूसरे दिन शाम को चार बजे दोनों थोड़े-से सामान के साथ स्टेशन की ओर चले तो लगा जैसे मकान बदल रहे हों। पड़ोसियों ने इधर-उधर

से झांका-झाकी की लेकिन और कहीं कुछ घटित नहीं हुआ। रास्ते में कुछ परिचित चेहरों, कुछ पहचानी जगहों पर दृष्टि रुकी लेकिन फिर लौट आई। यात्रा—पराये शहर से पराये शहर तक…

नये नगर में जाने की खुशी बच्चों की आंखों में चमक रही थी किन्तु पति-पत्नी की आंखों में उभर रहा था एक अजनबी नगर जिसमें कुछ भी अपना नहीं है, बस वीरान गहराइयां हैं, यहां से वहां तक पेचदार गलियां, अपरिचित मोड़, अनजाने चौरस्ते और एक अनदेखा मकान…।

गाड़ी ने सीटी दी तो तनु ने अंतिम बार दृष्टि उठाकर पूरे शहर को एक बार फिर देख लिया और फिर दृष्टि फेर ली।

गाड़ी सात बजे स्टेशन पर पहुंची। तनु ने देखा कि चिमनियों से भरा एक अनजान नगर उसके सामने खड़ा है। इस कोलाहल-भरे स्टेशन पर पहुंचकर उसे ऐसे लगा जैसे गाड़ी चलते-चलते किसी निचाट वीराने में रुक गई हो। एक नई दहशत-सी उसकी धमनियों में बजने लगी। दोनों डगमगाते कदमों से स्टेशन के बाहर आए।

एक तांगे में बैठे वे शहर में घुसते चले जा रहे थे। तनु मौन देख रही थी कि यह वह शहर है जहां उसे रहना है। जैसे वह बार-बार आंकने का प्रयास कर रही थी कि यह जगह रहने के लायक है या नहीं। फिर वह अपने भीतर ठहर जाती थी, उंह, रहने लायक है या नहीं! जैसे रहने या न रहने का विकल्प उसी के हाथ में हो। उसे रहना है, इतना ही भर जानना चहिए।

'कैसा लग रहा है तनु ?'

'लगना क्या है ? मैं तो बस आपके साथ हूं। आपको जैसा लगेगा मुझे भी वैसा ही लगेगा !'

पंकज ने अनुभव किया कि तनु किसी गहरे दर्द में है। वह चुप हो गया।

उसने तनु से इस शहर की बड़ी तारीफ की थी। इस छोटे-से नगर में दम घुटता है, तनु। यहां कोई अपना नहीं है। किन्तु अब वे बड़े शहर में जा रहे हैं। वहां बहुत-से लोग अपने आस-पास होंगे…किन्तु अब वह किस मुंह से तारीफ करे इस शहर की ? मकान की तलाश में मारा-मारा

फिरता रहा और बीमार पड़ गया था। अपनी पिछली यात्रा की याद करते हुए अचानक उसने झट से अपनी पॉकेट पर हाथ रख दिया। तनु ने उसके इस आकस्मिक व्यवहार को प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

पंकज मुस्करा पड़ा, 'कुछ नहीं तनु, कुछ नहीं। इस शहर में पहले दिन आया था न, उसी दिन पॉकेट कट कई थी। तुम्हें बताया तो था।'

तनु भी मुस्करा दी, जाड़े की जमी बदली में जैसे हल्की-सी धूप निकल आई हो।

तांगा नवनीत कॉलोनी पहुंचा, तो डॉ० त्रिवेदी घर में ही थे। उतर-कर आए, 'चलिए, आपको ले चलूं आपके मकान में, पास ही है।'

वहां पहुंचने पर मकान-मालिक मिस्टर देसाई ने बताया कि उन्होंने वह मकान दूसरे को दे दिया है।

अब कहां जाएं? एक घर छोड़ा, दूसरा मिला नहीं। पूरा परिवार लिये वह सड़क पर खड़ा है। देह थकावट से चूर है, मन उदासी से लदा है और डॉ० त्रिवेदी मिस्टर देसाई से उलझे हैं। जोर-जोर से दोनों एक-दूसरे पर बरस रहे हैं, 'मैंने एडवांस दे रखा था। आपने कैसे मकान उठा दिया?' डॉ० त्रिवेदी बरस रहे थे।

आपका आदमी बीस दिन तक नहीं आया तो उठा दिया। क्या जिन्दगी-भर उसका इन्तजार करूंगा?'

'आया या न आया, आपसे मतलब? आपको पैसे ही चाहिए थे न?'

दोनों वाक्‌युद्ध में जुटे थे परन्तु पंकज को इससे कोई सरोकार नहीं था। उसे तो मकान चाहिए था। उसने निरीह नेत्रों से देखा, सड़क पर हाथ लारीवाले अपनी लारी को ही मकान बनाए हुए पूरी गृहस्थी जमाए हुए हैं। बनजारे, चलते-फिरते मकान···मगर वह कहां जाए? क्या वह इसी तरह सारा सामान डालकर कहीं सड़क पर बैठ जाए?···

बच्चे जिद कर रहे थे, 'चलिए न पापा, अपने घर। यहां क्यों रुके है?'

'कहां जाएं?' पंकज सोच रहा था।

'आप वाइस प्रिंसिपल हैं न? आपमें इतनी मानवता भी नहीं कि दूसरे शहर से आने वाले इस परिवार को इस महीने के आखिर तक रहने दें! आखिर मैंने मास के अन्त तक का पैसा तो चुकाया ही है···कोई भीख तो

नहीं मांग रहा हूं !' इतना कहकर डॉ० त्रिवेदी तांगे की ओर मुड़े और गुस्से में बोले, 'चलिए प्रो० पंकज, अभी मेरा घर तो है न !'

तनु की देह अकड़ गई थी। इस अवस्था में वह कितने घंटों से बैठी आ रही है और आधा घंटा तो तांगे पर ही लग गया होगा। तिस पर बेघर होने की पीड़ा। उसके पेट में दर्द-सा होने लगा। वह उसे कसकर दबाए थी। डॉ० त्रिवेदी का संकेत पाकर तांगा मुड़ गया।

जान न पहचान इस परिवार से। एकाध रात के मेहमान होते तो खैर, कोई बात नहीं थी मगर यहां तो सामने विशाल चट्टान-सा बेघरापन फैला हुआ है। तिस पर डॉ० त्रिवेदी तीसरी मंजिल पर रहते हैं। तनु के लिए कितनी मुसीबत होगी चढ़ना-उतरना। कुछ दैनिक कार्यों के लिए नीचे आना ही पड़ेगा। और पंकज ही कौन चढ़ने-उतरने लायक है ? लेकिन, लेकिन···

तनु उदास-सी बैठी थी। पंकज भी हारा-थका कॉलेज से आया और चुपचाप बैठ गया।

'ऐसी मुसीबत में कभी नहीं फंसे थे, हे राम ! दूसरे के घर में कैसे रहा जाए ?' तनु ने पहली बार अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की।

पंकज को लगा कि वही अपराधी है। क्यों इस नगर को चुना उसने ? वह मन ही मन हंसा, हां, जैसे चुनना न चुनना उसके हाथ में ही तो था ! वही नगर कौन-सा अपना था ? वहां भी तो वही चक्कर चला था। चक्कर में फंसा-फंसा जैसे वह एक दलदल में फंस गया था। चारों ओर से एक खामोश ठहराव ने उसे ग्रस लिया था। ठहराव···ठहराव···नहीं, ठहराव उसे स्वीकार नहीं है। वह तो उसे निगल ही लेगा। उसका कभी घर था ही नहीं। वह तो हमेशा चलने के लिए छोड़ दिया गया है।

'तनु, जरा धीरज धरो···सब ठीक हो जाएगा !' पंकज एक पिटे-पिटाए लहजे में बोल तो गया, लेकिन वह स्वयं में बहुत टूटता हुआ महसूस कर रहा था। हो सकता है, यदि तनु की जगह उसने यह बात कही होती तो यही उपदेश तनु उसे देती।

'बहुत थक गए हो न ? अभी फ्लू से उठे नहीं कि यह चक्कर चल

पड़ा। कॉलेज से कुछ और छुट्टी क्यों नहीं ले लेते ?'

'नहीं तनु, नया-नया आदमी हूं···कॉलेज के लिए। प्रिंसिपल समझेगा कि कोई लखैरा है···कैसी बला पाल ली, इस आदमी को नियुक्त करके !'

'ऐसा सोचेंगे प्रिंसिपल ?' तनु ने आश्चर्य से पूछा।

'हां तनु, मुझे अनुभव है। प्रिंसिपल को तो कॉलेज का काम चाहिए, उन्हें मेरे दुख-सुख से क्या मतलब ?'

'ओह', तनु ने एक ठंडी सांस भरी।

'बच्चों ने कुछ खाया, तनु ?'

'हां।'

'और तूने ?'

तनु ने बहुत करुण आंखों से पंकज की ओर देखा। पंकज समझ गया कि उसने गलत पूछ लिया है। आज तक क्या तनु ने पंकज के खाना खाए बगैर खाया है ! वह तनु की उपालंभ-भरी आंखों की करुणा से सहम गया। फिर दोनों के बीच एक चुप्पी-सी छा गयी, दोनों के बीच एक पराया मकान आकर अड़ गया और दोनों अपनी-अपनी जगह अड़े हुए इस मकान को देखते रहे। पंकज सोचता रहा कि अपना घर होता तो क्या तनु उसके कॉलेज से आने के बाद इस तरह मौन रहती ? कितनी भूख लगी है लेकिन तनु चुप है असहाय-सी। और तनु अपनी असमर्थता में डूबी हुई, पंकज की भूख से खुद तड़प रही थी।

पंकज ने चाहा कि तनु को लेकर किसी होटल में खाना खा आए, लेकिन···लेकिन नहीं, डॉ० त्रिवेदी का अपमान होगा। वे क्या सोचेंगे ? खाना तो बना ही होगा लेकिन कहां हैं मिसेज त्रिवेदी ?

'तनु, कहां हैं मिसेज त्रिवेदी ?'

तनु मुस्कराई। वह पंकज के पूछने का अर्थ समझ गयी।

'सोई हैं, मुझसे खाने को कहा लेकिन तुम जानते ही हो···फिर उन्होंने कहा कि जब तुम आओ, तो मैं उन्हें जगा लूं।

'हूं !' एक गम्भीर स्वर में पंकज ने उच्छ्वास छोड़ा और चुप बैठा रहा। वह जानता है कि मिसेज त्रिवेदी को जगाने का अपराध तनु नहीं कर सकती। वह भी यदि उसकी जगह होता तो नहीं कर सकता था।···

दोनों ही थके हुए लेट गए। दो घंटे के बाद डॉ० त्रिवेदी उन्हें जगा रहे थे, 'आप लोगों ने खाना नहीं खाया ?'

'ओह, नींद आ गयी।' पंकज ने प्रश्न को मोड़ते हुए कहा।

डॉ० त्रिवेदी अपनी पत्नी को डांटने लगे थे। पंकज और तनु दोनों ही बड़े संकुचित हो उठे थे कि उनके कारण मिसेज त्रिवेदी को डांट सुननी पड़ रही है…वे क्या सोचेंगी…एक तो हमारे सिर आ पड़े और दूसरे इनके कारण डांट सुननी पड़ रही है।…

तनु ने डॉ० त्रिवेदी को रोकते हुए कहा, 'नहीं भाई साहब, बहन जी का कोई दोष नहीं है। उन्होंने तो मुझे बहुत पहले खाने को कहा था। मैंने ही मना कर दिया था।'

मिसेज त्रिवेदी ने सबको खाने के लिए बुलाया। पंकज ने अनुभव किया कि मिसेज त्रिवेदी को बहुत तीता-तीता-सा महसूस हो रहा है। उसकी खाने की इच्छा मर गयी थी लेकिन तनु के लिए खाना ही पड़ेगा… और यों भी नहीं खाने से एक तनाव भर जाएगा वातावरण में।

बच्चे चुपचाप छत पर से नीचे के बच्चों का खेलना देख रहे थे… जैसे वे भी अपने को यहां अजनबी समझ रहे हों। पंकज का मन बेहद उमस से भरा था। वैसे भी उमस बहुत थी। कई दिनों से पानी नहीं बरसा…वातावरण मानो उबल-उबलकर भाप-सी फैला रहा है।

खाना खाने के बाद वह सोच रहा था कि क्या करे, कहां जाए? अजब फंसाव में है वह! न इस जगह को छोड़ते बनता है, न इससे जुड़ते। कब तक चलेगा इस तरह ?

'प्रो० पंकज!' पंकज को टोकते हुए डॉ० त्रिवेदी ने कहा, 'देसाई मान गया है। इस महीने के अन्त तक आप उस मकान में रह सकते हैं।'

'ओह, बहुत अच्छा हुआ!' पंकज ने राहत की सांस लेते हुए कहा जैसे उसकी छाती पर लदा हुआ एक भारी पत्थर सरक गया हो।

'कमीना है, मानता ही नहीं था! उसे भय था कि आप वहां गए तो फिर छोड़ेंगे नहीं। आज जब प्रिंसिपल ने उसे फोन पर विश्वास दिलाया तब जाकर तैयार हुआ।'

'उम्मीद तो है कि तब तक कोई मकान मिल ही जाएगा।' कहने को

तो पंकज कह गया लेकिन मन में सोचने लगा, नहीं मिला तो फिर कहां जाएगा? तब तो लौटकर त्रिवेदी के यहां भी नहीं आ पाएगा। और इस बीच तनु को कुछ हो गया तो? उसने देखा, घड़ी में पांच बज रहे थे। वह उठ खड़ा हुआ, 'तो चला जाए?'

'कहां?' चौंककर डॉ० त्रिवेदी ने पूछा।

'वही, देसाई के घर में।'

'ओ-हो-हो -हो!' त्रिवेदी साहब एक खास अंदाज में हंसते हैं, 'अरे, कल चले जाइएगा। ऊब गए क्या?'

'नहीं, जाना है तो बस चलना ही चाहिए। ऊबने का क्या प्रश्न है, डॉक्टर साहब? हम तो आपके आभारी हैं कि आपने हमारे लिए इतना किया।'

शाम को पंकज नये मकान में पहुंच गया। देसाई साहब दो-एक बार टहलते हुए आए और घूमते हुए चले गए। उनकी आंखों से घृणा और हिंसा बरस रही थी। पंकज उन्हें बर्दाश्त नहीं कर पा रहा था। उसकी इच्छा हो रही थी कि इस कमीने की टोपी जूते की नोक से उछाल दे और जबड़ा तोड़ दे मारकर। लेकिन इच्छा होने के सिवा वह और क्या कर सकता है?

वह बैठा था। दोनों बच्चे उसे निरीह भाव से घेरे थे। तनु धीरे-धीरे रोटियां सेंक रही थी। एक अजब-सा घिराव महसूस कर रहे थे सभी। स्टोव की लपट और उसकी आवाज ही एकमात्र सहारा थी इस घिराव से उबरने का। तनु शायद पंकज के बारे में सोच रही थी और पंकज तनु के बारे में। दोनों ही बीमार, दोनों ही परवश। आकाश में बादल घिर आए थे। न बरसते थे, न छंटते थे। पंकज इस घर में आकर इस प्रकार सिमटा था जैसे कोई अपराध किया हो। देसाई परिवार के किसी व्यक्ति को देखते ही उसके भीतर एक दहशत-सी भर जाती थी। जब तक उसे मकान नहीं मिला था तब तक वह एक भटकाव-सा अनुभव करता था। अब मिल गया तो अपराध-सा महसूस कर रहा है।…सात दिन बाद उसे यह मकान भी छोड़ देना है। रहते हुए भी न रहने का बोध, जीते हुए भी

न जीने का अहसास। कितना भयानक होता है यह ! वह इन लोगों के अनचाहे इनके मकान में आकर रह रहा है। कितनी घृणा होगी उनके मन में ! तनु की मौन पीड़ा पंकज के ऊपर झुकी थी जैसे भूमि पर जाड़े की बदली।...

दूसरे दिन से फिर मकान की तलाश। मकान खाली तो है लेकिन दूसरे प्रांत का आदमी, न जाने कैसा हो ? नहीं, मकान खाली नहीं है !

पंकज घर लौटा तो देखा, तनु बहुत भरी-भरी है, लगता है, रोकर चुकी है।

'क्या है, तनु ?'

'नहीं, कुछ नहीं', के भाव से उसने सिर हिला दिया।

'बहुत दर्द हो रहा है ?'

उसने फिर सिर हिला दिया।

पंकज ने देखा, दोनों बच्चे एक कोने में चुपचाप बैठे हुए हैं और उसे देखकर भी खड़े नहीं हुए। कमरे में एक सर्द मौन व्याप्त था।

'कुछ तो बोलो, तनु ! देखो, मैं तो यों ही परेशान हूं। इस तरह मौन रहकर वातावरण को तुम और भारी मत करो।'

उसने तरल आंखों से पंकज को देखा, फिर बच्चों की ओर। वह धीरे-धीरे उनके पास गया और बड़े प्यार से उन्हें छाती में भर लिया। वह समझ गया कि मामला कुछ बच्चों का है।

'क्या बात है, तनु ?' उसने फिर पूछा।

'कुछ नहीं। बच्चे जरा उधर गए कि मिसेज देसाई ने कुत्ते की तरह दुत्कारकर भगा दिया। मुझे क्रोध आ गया और इन निरीह बच्चों को पीट दिया, क्यों जाते हैं उधर ? सात दिन काटने हैं, किसी तरह सिमट-कर।'

पंकज कुछ नहीं बोला। खोया-खोया-सा बैठा रहा।

और खामोशी में सुलगती हुई एक रात और बीत गयी।

सुबह उठा तो पंकज को बुखार हो आया था। फिर फ्लू। कॉलेज गए तीन दिन भी नहीं हुए थे कि फिर फ्लू...फिर छुट्टी। क्या सोचेंगे

प्रिंसिपल ? उसने उठने का प्रयत्न किया लेकिन नहीं उठ पाया।

तनु ने चाय लाकर रखी तो दोनों की उदास आंखें आपस में मिलीं और एक-दूसरे में डूब गयीं। तनु को लगा कि वह फूटकर रो पड़ेगी। इसलिए झटके से हट गयी। पंकज हौले से मुस्करा दिया और कड़वी घूंट गले से नीचे उतारने लगा।

कोडोपायरिन के टैबलेट लिए तो दोपहर तक तबीयत कुछ हलकी हुई। वह बरामदे में चटाई बिछाकर बैठा था।

'आप पंकज जी हैं ?'

'हां, हूं तो, बैठिए !'

'मैं प्रभात हूं। सुना कि आप यहां आए हैं; मिलने चला आया।'

'कृपा की, नहीं तो यहां कौन किससे मिलता है !'

'मैं भी आप ही के जिले का हूं। मैं भी यहां अजनबी बनकर ही आया था। समझता हूं आपके दर्द को, और डॉ० त्रिवेदी से सब सुन चुका हूं। मैं भी एक कॉलेज में हूं।'

दोनों में बातें होती रहीं। पंकज को लगा कि भीड़ में कोई एक चेहरा उसके लिए परिचित भी है। मकान की समस्या सामने थी। प्रभात ने कहा, 'अभी निकलते हुए रास्ते में एक 'टूलेट' देखा है।'

'मैं भी चलता हूं।'

'अरे नहीं, आप बीमार हैं, कहां चलेंगे ! फिर कभी आपको ले चलूंगा।'

'नहीं, पास में है तो चला चलता हूं।'

वहां एक बूढ़े सज्जन से भेंट हुई। उन्होंने मकान देने का वायदा कर लिया, 'कुंजी मां के पास है। दो घंटे बाद आइए और कमरा देख लीजिएगा।'

दोनों फिर दो घंटे के बाद पहुंचे तो उसने कह दिया कि मां ने मना कर दिया है।

पंकज हताश-सा उठ खड़ा हुआ, लेकिन प्रभात उन्हें जलती आंखों से घूरता रहा। फिर बोला, 'तुम साठ साल के रिटायर्ड ऑफिसर हो। शर्म नहीं आती, मां के कहने पर अपने निर्णय को बदलते हुए ? फ्लू में पड़े

हुए आदमी को दो बार बुलाया और बहुत आसानी से 'हां' को 'ना' कर दिया !'

पंकज ने प्रभात की बांह पकड़ी और बाहर खींच ले चला। प्रभात सुनाता गया, 'ये मां-वां का चक्कर नहीं है ! यह दूसरे प्रांत के आदमी को अछूत मानता होगा।'

प्रभात ने साइकिल उठायी और मकान की तलाश में निकल पड़ा। शाम को लौटा निराश-सा, 'नहीं मिला कहीं। क्या बताऊं, मेरे पास जगह ही नहीं है, नहीं तो यह सब परेशानी काहे को होती।' फिर एकाएक उत्तेजित होकर बोला, 'चलिए, देसाई से मैं बात करता हूं।'

पंकज को देसाई के यहां जाने की इच्छा नहीं हुई लेकिन प्रभात खींच ले गया। देसाई सुपारी काटते हुए पलंग पर बैठा था। ये दोनों जाकर खड़े हो गए। देसाई कभी किसी को बैठने को नहीं कहता। दोनों अपने-आप कुर्सियों पर बैठ गए।

'देसाई साहब, आपने पंकज जी को बहुत परेशान कर दिया है।' प्रभात ने बात शुरू की।

'ह्वाट डू यू मीन, मिस्टर ?' जलती आंखों से देसाई ने देखा।

'मेरा मतलब यह है, देसाई साहब, कि आपने पंकज जी को बहुत हैरान कर दिया है।'

'गेट आउट !' देसाई जोर से चीखा।

पंकज जानता था कि देसाई यही व्यवहार करेगा। उसने प्रभात की बांह पकड़ी और बाहर खींचने लगा।

किन्तु प्रभात तनकर खड़ा था, 'देसाई साहब, तुम वाइस-प्रिंसिपल हो। तुम्हें इतनी भी तमीज नहीं कि दो प्राध्यापकों से कैसे व्यवहार किया जाता है ? 'गेट आउट' का मतलब मैं समझना चाहता हूं।'

'जाओ, जाओ', खोखले रोष से देसाई फिर चीखा। प्रभात पंकज से खिचा-खिचा बाहर चल दिया किन्तु आंखों से गुर्राकर मानो कहता रहा, 'गेट आउट' का मतलब तुमसे फिर कभी समझूंगा।

दोनों साथ-साथ बैठे रहे। जब काफी रात हो गयी, तब प्रभात ने कहा कि मैं चलूंगा और मकान की तलाश में रहूंगा।

पंकज की नींद लगी ही थी कि मकान के पास उठते हुए प्रभात के शोर से चौंककर वह जाग पड़ा। ओह, वह घर नहीं गया? देसाई के व्यवहार से शायद बहुत आहत अनुभव कर रहा है।

प्रभात जोर-जोर से चिल्ला रहा था, 'अरे वाइस-प्रिंसिपल, जरा तुम बाहर तो आओ, तुमसे 'गेट आउट' का मतलब समझना चाहता हूं!'

मिसेज देसाई बार-बार देसाई से कह रही थीं, 'निकलना मत, नहीं तो मारेगा!'

देसाई बाहर नहीं आए। आस-पड़ोस के लोग आए और किसी प्रकार समझा-बुझाकर प्रभात को वापस किया।

'क्या है?' तनु भी जाग पड़ी थी।

'कुछ नहीं, प्रभात आया था···वह मेरे लिए देसाई से लड़ रहा था।'

'हे राम', कहकर तनु फिर लेट गयी।

पंकज बीमारी की पीड़ा से और पीड़ित हो उठा। यह अच्छा नहीं हुआ। देसाई की घृणा और बढ़ जाएगी। लोग सोचेंगे कि उसके यहां के लोग ऐसे ही लड़ाकू होते हैं, और यह सामाजिक लांछन उसे सह्य नहीं हुआ। प्रभात की आत्मीयता भी इतनी भारी पड़ी! ओह, उसने क्यों नहीं सोचा कि इसका फल मुझे भोगना पड़ेगा? उसे लगा कि सुबह उठते ही वह आसपास के लोगों की आंखों में और छोटा दिखने लगेगा। और यदि यह कहानी फैलती-फैलती फैल गयी तो शायद कोई अपने मकान में उसे रखना पसन्द न करे। इस शहर में क्या हो गया है कि जो ही आता है उसे यह छोटा कर जाता है!

शाम को उसका बुखार कुछ हलका था। बरामदे में चटाई पर बैठा था कि धीरे-धीरे देसाई उसकी ओर सरक आए। उनकी आंखों में एक सपाटता थी।

'कैसी तबीयत है?'

'तबीयत?' मन में पंकज ने दुहराया, बहुत द्रवीभूत लगते हैं आज। क्या बात है? कल का असर है क्या?···

'बुखार है', छोटा-सा उत्तर दिया पंकज ने।

'हां, फ्लू का दौर चल रहा है आजकल। बचकर रहना चाहिए।'

'जी हां !'

'देखिए न, कल प्रभात जी नाहक नाराज हो गए।'

'कल जो कुछ हुआ उसका मुझे खेद है मिस्टर देसाई !'

'नहीं, नहीं, आपका दोष क्या है ? मैं तो आपको अपना मकान दे ही देता, लेकिन आपके आने से पहले एक महिला विद्यालय की प्रिंसिपल को मकान देने का वायदा कर दिया है। वह बाहर से आ रही हैं। भला कहां रहेंगी, उन्हें 'ना' बोल दूं तो ?'

'जी हां, जी हां, आप ठीक कहते हैं।'

'आपको कोई मकान मिल गया क्या ? वह परसों सुबह यहां आ जाएंगी।'

'जी मकान तो नहीं मिला···लेकिन आप चिन्तित न हों। कल मकान खाली कर दूंगा।'

'मेहरबानी', कहकर देसाई चले गए।

'तनु', उसने पुकारा।

तनु चाय लेकर आ रही थी, 'क्या है ?'

'नहीं, नहीं, कुछ नहीं !' पंकज झटके से चुप हो गया।

'कुछ तो है !' इस भाव से तनु पंकज को देखती रही।

'नहीं, कुछ नहीं।'

'क्यों मारते हो अपने को, यों अकेला करके ? कुछ कहते क्यों नहीं ? क्या व्यथा बांटी नहीं जा सकती ?'

'नहीं तनु, यह व्यथा बांटने से नहीं बंटने की !'

तनु ने आहत नेत्रों से पंकज को देखा, और धीरे-धीरे खिसक गयी।

'तनु, मैं खाना नहीं खाऊंगा।'

'तब मैं क्यों बना रही हूं ?'

'क्यों, अपने लिए और बच्चों के लिए ?'

'बच्चों के लिए तो है और मेरे पेट में हलका-हलका दर्द है।'

बच्चे खाकर सो गए थे। तनु भी चटाई पर लेट गयी।

'तनु, कहीं वैसा दर्द तो नहीं है ?'

'कह नहीं सकती। अभी होना तो नहीं चाहिए।' वह लेट गयी।

पंकज को नींद नहीं आ रही थी। बुखार में करवटें बदल रहा था। तनु अनजाने में कराह रही थी या जागती हुई भी सोने का बहाना कर रही थी।

कल मकान खाली करना है। वह बुखार में है। तनु कराह रही है। पता नहीं कब क्या हो जाए। कहां जाएगा कल? कइयों ने सलाह दी है कि वह मकान छोड़े ही नहीं।···नहीं, वह यह कभी नहीं कर सकता! वह तब अपने ही को बर्दाश्त नहीं कर पाएगा।

तनु की कराह तेज होती जा रही थी। उसने हल्के-हल्के आवाज दी लेकिन तनु नहीं जागी। ठीक है, सो रही है। ऐसा-वैसा दर्द होता तो सोती काहे को? लेकिन वह बहुत देर तक अपने को निश्चितता के भ्रम में न रखकर घबरा उठा। उसे अनुभव हुआ कि उसका बुखार तेज हो रहा है। कहां जाएगा कल? सामने एक रेगिस्तान है, जिसमें रास्ते नहीं हैं। रास्ते दीखते भी हैं तो हवा उन्हें मिटा जाती है। ओह, बड़ी उमस है! ये बादल कई दिनों से आकाश में कसे हैं···न बरसते हैं, न छंटते हैं। कहां जाएगा कल?···यही घातक सवाल बार-बार उसे मानो घेरकर बरसने लगा और वह जाड़े की बारिश में भीगता-ठिठुरता-सा अवश पड़ा रहा···

निर्णय

कार में एक किनारे मैं बैठ चुका था। दूसरी ओर से कुछ और मेहमान कार में बैठने के लिए आ रहे थे। एकाएक आतिथेय मिस्टर श्रीवास्तव की डांट-फटकार सुनकर मैं चौंका। खलासी जैसे वेश में ज्ञान कार पर चढ़ने के लिए आगे बढ़ रहा था और श्रीवास्तव डांट रहे थे, 'चलिए हटिए, आपके लिए नहीं है यह कार !'

मैंने खिड़की की ओर मुंह फेर लिया कि ज्ञान मुझे देख न ले। मैं जानता था कि यदि वह मुझे देख लेगा तो कार में बैठे बिना नहीं मानेगा और संयोजक उसे धक्का देकर निकाले बिना नहीं मानेगा और मेरी स्थिति विचित्र हो जाएगी।

कार एक झटके से चल चुकी थी और ज्ञान मार खाए कुत्ते-सा चुपचाप प्लेटफार्म की ओर सरक गया था।

मैंने राहत की सांस ली। एक बाहर के कवि से सम्मेलन के संयोजक श्रीवास्तव जी कह रहे थे, 'क्या बताया जाए, बेचारा हीरा आदमी था, बढ़िया कवि लेकिन पागल हो गया। बड़ा तरस आता है इस पर लेकिन अब इसे कोई कहां तक ढोए ?'

मैं अपने से लड़ रहा था कि श्रीवास्तव की बात से राहत मिली; हां, ठीक ही तो, कोई कहां तक ढोए ? पता नहीं श्रीवास्तव जी का वाक्य अपने को सुनाने के लिए था या औरों को सुनाने के लिए लेकिन मैंने अपने को ही सुनाने के लिए यह वाक्य मन ही मन कई बार दुहराया।

ज्ञान को इस रूप में, इन दस वर्षों में कई बार देखा है। जब-जब छुट्टियों में आता हूं, मुलाकात हो जाती है, बल्कि वही मुलाकात कर

जाता है। वह मेरे घर जा-जाकर मेरे आने का समय पूछता रहता है। यद्यपि घर का हर आदमी उससे यही कहता है कि इस वर्ष मैं नहीं आ रहा हूं लेकिन मेरे आने को वह सूंघ ही लेता है और कभी-कभी मेरे पहुंचने के दो घंटे बाद ही मेरे घर पहुंच जाता है। यदि मैं सामने नहीं पड़ गया तो घर के बच्चे उसे यह कहकर लौटा देते हैं कि मैं नहीं हूं या गांव गया हूं। मैं कमरे में बैठा सब सुनता हूं और चुप रहता हूं और अपने से लड़ता हूं। लेकिन लगता है कि अब अपने से लड़ने का बोध भी धीरे-धीरे रीत चला है। यह तो चाहने ही लगा हूं कि वह न मिले बल्कि यह भी चाहने लगा हूं कि कोई दूसरा आदमी झूठ बोलकर उससे मिलने से मुझे बचा ले।

क्या सचमुच ही रीत गया है यह द्वन्द्व-बोध? तो फिर मैं क्यों सोचने लगा हूं कि उसने नहीं देखा, अच्छा हुआ! पराये आदमी के दीखने न दीखने से क्या फर्क पड़ता है? मैं भी तो श्रीवास्तव की तरह उसे डांटकर चल सकता था या केवल मौन रह सकता था।

'लेकिन आपको इस तरह नहीं डांटना चाहिए; आखिर वह कवि है!' एक अतिथि कवि बोल रहे थे।

'अरे साहब, वह सिर चढ़ बैठता है। जाकर कवि सम्मेलन में माइक पकड़कर बैठ जाता और कार में बैठकर आप लोगों से पैसे मांगने लगता।'

'अच्छा!' एक लम्बे विस्मय के स्वर में उस अतिथि कवि ने कहा जैसे ज्ञान उसके सिर पर सचमुच सवार हो रहा हो या कि उससे पैसे मांग रहा हो।

'हां साहब', एक दूसरे कवि (जो एक पड़ोसी जिले के होने के नाते ज्ञान से खूब परिचित थे) बोल रहे थे, 'बड़ा कष्ट होता है, ऐसे व्यक्ति की यह हालत देखकर। कोई कहां तक खिलाए-पिलाए? अब तो यह लाइलाज हो गया है, कोई करे क्या?'

'गत वर्ष यह मेरे घर मुझे खोजता हुआ आया था। भतीजा बता रहा था कि वह पगला आया था और कटोरे में रखा हुआ जूठा भात सफाचट कर गया।'

'हां, जरूर कर गया होगा', अब इससे अधिक मेरी प्रतिक्रिया नहीं होती। मैं काफी ठंडा हो गया हूं।

मैं और ज्ञान, ज्ञान और मैं···एक लंबी कहानी है जो वर्षों के अन्तराल में अनेक रूपों और रंगों में फैली पड़ी है। अब उसे छूते हुए भी डर लगता है। लेकिन···उस वार अक्तूबर की छुट्टियों में घर लौटा था तब स्टेशन से सीधे उसके घर गया। पत्नी एक मास पहले ही घर आ चुकी थी। हां, सच है कि मैं स्टेशन से सीधे अपने घर आने की अपेक्षा उसके घर जाना पसन्द करता था। हम दोनों एक शहर में रहते हुए शायद बहुत कम घंटों के लिए अलग रह पाते थे।

जब मेरा रिक्शा उसके नये मकान के सामने रुका तो वह अपने कमरे में बैठा हुआ दिखाई पड़ गया। किन्तु वह उठा नहीं, जहां का तहां चुपचाप बैठा रहा। यह मेरे लिए एक नया अनुभव था। कहां गया वह उल्लास, वह ठहाका और अपने से मुझ तक एक लंबी छलांग ? मैं उसके पास गया। वह उसी तरह बैठा रहा। उसके चेहरे पर एक उड़ी-उड़ी उदासी छायी रही। रह-रहकर एक थकी-सी मुस्कान उसके भीतर से उबकाई की तरह उभर उठती थी। मुझे यह सब इतना असह्य हो रहा था कि उसे थप्पड़ जड़ देने की इच्छा जाग पड़ी।

'क्यों श्रीमान् जी, क्या बात है, आज बहुत उत्साह में दीख रहे हैं !' मैंने व्यंग्य किया। मुझे इतना आश्चर्य हुआ कि व्यंग्य पर इतनी तेजी से जवाब देनेवाला ज्ञान केवल मुस्कराकर रहा गया।

'आप जानते हैं, आज मैं रात-भर जगकर एक-दूसरे लोक में विचरण करता रहा हूं।'

'क्यों, कोई खास बात है क्या ?'

'आज रात-भर 'कल्याण' पढ़ता रहा हूं।'

'कल्याण ?' मैं आश्चर्य से चीख-सा पड़ा। फिर संयत होकर बोला, 'क्यों, मार्क्सवाद की सारी पुस्तकें चुक गयीं क्या ?'

वह मेरे व्यंग्य पर मुस्कराता रहा।

'पागल हो गए हो क्या ?' मैं एकाएक कह गया, लेकिन मन एक दहशत से भर आया, कहीं सचमुच तो···फिर झटककर इस भाव को

फेंक दिया।

मैं बैठा रहा। न उसने चाय के लिए पूछा, न नहाने-धोने के लिए।

'चाय-वाय मिलेगी क्या, भक्तराज?'

'ओह हां, आपने चाय तो पी ही नहीं होगी! मैं तो भूल ही गया था। वह खंखारकर उठा और वहीं से पुकारकर बोला, 'सुनती हो, भाई साहब आए हैं, चाय-वाय भेजो!' फिर वह जहां का तहां बैठ गया, जैसे वह आश्वस्त हो गया कि उसकी आवाज वहां पहुंच गयी और चाय भी बन गयी और मैंने पी भी ली।

'आप ईश्वर में विश्वास नहीं करते?'

उसका प्रश्न सुनकर मैं उसकी ओर स्तब्ध दृष्टि से देखता रहा जैसे कहना चाहता रहा कि तुम जानते हो मैं ईश्वर में विश्वास नहीं करता और मैं भी जानता हूं कि तुम भी नहीं करते फिर यह सवाल कैसा? लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं, मुस्करा-भर दिया।

'वह रात को मुझसे मिला था।'

'कौन?'

'ईश्वर, और कौन!'

'अच्छा', मैं मजाक के मूड में आ गया, 'कैसा है वह? क्या कह रहा था?'

'वो, ओफ, आप नहीं समझेंगे। वह दिव्य ज्योति, अकलुष-अनंत सौंदर्य तो अनिर्वचनीय था···मैं तो देखता ही रह गया!'

'बस-बस भक्तराज! रात-भर 'कल्याण' पढ़ते रहे हो न इसीलिए ईश्वर के सारे नाम याद हो गए।'

'इ-इ' उसने एक बार जोर से कहा, फिर ठठाकर हंस पड़ा, 'आप नहीं जानिएगा भाई साहब बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों की समझ में तो वह आया ही नहीं।'

'तो फिर तुम कैसे चक्कर में पड़ गए इस काल्पनिक विराट् के? क्या अपने आसपास ही जानने के लिए चीजें कम पड़ी हैं?' मैंने कहा। मैं अब तक सोचता रहा कि ज्ञान अपनी तार्किक आदत के अनुसार केवल बहस के लिए 'कल्याण' और ईश्वर को बीच में ला रहा है। लेकिन उसने

जब मेरे आक्षेप पर मेरी ओर घृणा से देखकर कहा, 'आपकी क्या हस्ती है श्रीमान् जी ईश्वर को नकारने की' तब जाना कि सचमुच ही सारी बातें गंभीरता से कह रहा है। मुझे इस अपमानजनक बात से चोट लगी लेकिन पी गया। और कुछ देर बाद उठकर चला आया। पत्नी को समाचार दिया तो वे स्तब्ध रह गयीं।

शाम को ज्ञान मेरे घर आया तो मुझे प्रसन्नता हुई। लगा जैसे बीते दिन फिर लौट आए हैं जब हम लोग साथ खाना खाते थे, घूमते थे, कविताएं पढ़ते थे, हंसते थे, रोते थे। सुबह वह दिन खो गया था, अभी-अभी लौट आया है।

उसके आते ही मैंने कहा, 'चलो कहीं घूम आएं।' वह एक बार ठठाकर हंसा फिर चुप हो गया जैसे एकाएक अपने में लौट गया।

हम जाकर जुबली पार्क में बैठ गए। शाम की ठंडी-ठंडी हवा से पूरा पार्क एक मिली-जुली सांस छोड़ रहा था। हम लोग एक बेंच पर बैठ गए।

'क्या बात है ज्ञान? बहुत चुप-चुप हो आज।' पत्नी ने हमारे बीच छाए सन्नाटे को तोड़ा।

'नहीं-नहीं, भाभी जी, चुप तो नहीं हूं। अपने भीतर बहुत मुखर हो रहा हूं।...ऋषियों ने कहा है कि आत्मसंवाद सबसे बड़ा सवाद है!'

'अरे यार, गोली मारो इन ऋषि-मुनियों को, कुछ आदमी की बात करो। आखिर हम पार्क में बैठे हैं, जंगल में नहीं!'

वह ठठाकर हंस पड़ा, 'हां-हां, ठीक कहते हैं आप, हम लोग पार्क में बैठे हैं। अच्छा बताइए, कैसे रहे, छुट्टियां कितने दिनों की हैं?'

मैं मुस्कराया, पत्नी भी मुसकरायीं और वह फिर अट्टहास कर उठा।

'मैं तो ठीक हूं। तुम्हारा भी हाल-चाल मिला था। सुना था कि तुम लोगों को बहुत मारने-पीटने लगे हो।'

मेरे इस आक्षेप से वह कुछ चिन्ता में पड़ गया, कुछ सोचने-सा लगा। एकाएक वह फूट पड़ा, 'अरे वह? वह बेवकूफ श्यामलाल...उसे मैंने जिन्दा छोड़ दिया यही बहुत समझिए!'

श्यामलाल रिश्ते में मेरे मामा लगते हैं, बड़े ही सीधे-सादे, सन्त

पुरुष, सबकी सेवा के लिए तैयार। ज्ञान को मेरा मित्र जानकर अपने बड़े-से मकान में पार्टनर बनाकर ले गए थे। कुछ दिन पहले सुना था कि ज्ञान ने श्यामलाल जी को पीट दिया। मैं समाचार सुनकर आहत हो गया था, एक मित्र, एक सम्बन्धी; क्या करूं ?

'हो-हो, हो-हो, वो श्यामलाल···बदमाश···अरे उसे तो मारना ही था।'

'बहुत गलत काम किया है तुमने ज्ञान! यह कहां की शराफत है कि एक बुजुर्ग शरीफ आदमी पर हाथ छोड़ो ?' पत्नी ने तनकर प्रहार किया।

'अरे भाभी जी, आप नहीं जानतीं···वह बहुत दोषी है।' और उसने कई बार कही हुई अपनी कहानी दुहरा दी।

'जानते हैं आप लोग, यह श्यामलाल देखने में सन्त है लेकिन बड़ा कामी है। जब से गीता (ज्ञान की पत्नी) इस घर में आयी है वह तब से बैंक से छुट्टी ले-लेकर घर बैठ जाता है। मैं तो दिन-भर अपने दफ्तर में खटता था और यह गीता को हमेशा निहारता रहता था। कई बार तो गीता के हाथ से बाल्टी छूटकर उसके पांव पर गिर पड़ी और महीनों उसका पांव सड़ता रहा।'

हं-हं, हं-हं कहकर वह चुप हो गया और हम तीनों फिर एक-दूसरे से कटकर तीन छोटे-छोटे द्वीपों-से रह गए। पार्क के उस कोने में स्थित बिन छत के रेस्तरां का हल्का-हल्का रेडियो संगीत तैरता हुआ आ रहा था।

कितनी बार इस बात को लेकर मेरी और ज्ञान की बहस हो चुकी थी। मैंने उसे बार-बार कहा कि यह तुम्हारा और गीता का वहम हो सकता है, श्यामलाल जी ऐसे नहीं हैं।

'ऐसे नहीं हैं ? आप भी भाई साहब, आदमी को नहीं पहचानते ! आप जानते हैं, बाहर-बाहर से यह आदमी सबकी सेवा करने का स्वांग रचता है लेकिन इसी बहाने यह सबकी स्वतंत्रता में दखल देता है।'

उसकी बात में सचाई थी। फिर भी मेरा मन यह नहीं मान सका कि श्यामलाल मामा छुट्टी ले-लेकर गीता को ताकते हैं और अनजाने ही मेरे मन में इस औरत के प्रति कुछ क्रोध और वितृष्णा का भाव जागने

लगा था कि यह ज्ञान के भीतर सन्देह के कीटाणु पैदा कर रही है। और ज्ञान को क्या हो गया है कि जो इस औरत के कहने से इतना कुछ मान लेता है। सेक्स उसकी कमजोरी नहीं रही है फिर सेक्स का सन्देह उस पर इस तरह हावी क्यों हो रहा है ?

ज्ञान को वह समझ नहीं सकी है, उसके उन्माद को वह भक्ति-भावना मान रही है। और मुझे लगा कि आज ज्ञान जो है, उसकी शुरुआत बहुत पहले हो चुकी थी जिसका पहला विस्फोट था श्याम मामा की पिटाई।

'हं-हं, उसे आप नहीं जानते। वह बहुत धूर्त है। उसका सम्बन्ध आसपास की कई औरतों से है। आपने देखा नहीं है कि वह कैसे उत्साह से मुहल्ले-भर की औरतों का काम करता है और साथ ही उन्हें कीड़ा-मकोड़ा समझता है।'

मैं ऊबकर रेस्त्रां में आते-जाते लोगों को देखने लगा।

'अभी क्या, अभी तो और मारूंगा ! अभी तो सिर ही फोड़ा है, टांग भी तोड़नी है। उसने मुझे पुलिस के हवाले किया था।'

'ज्ञान !' एकाएक मैं चीख उठा। पत्नी ने भी क्रोध-मिश्रित दृष्टि से ज्ञान को देखा फिर मेरी ओर दृष्टि फिरा ली।

'ओ-हो-हो-हो, आप लोगों को बुरा लग रहा है न, अच्छा जाने दीजिए !'

मैं उठ खड़ा हुआ। न जाने ज्ञान के मन में क्या कौंधा कि बहुत भीगी आवाज में बोल उठा, 'माफ कीजिए भाई साहब…।'

मेरा मन दुहरे दर्द से ऐंठ गया। इस माहौल से छुटकारा पाने के लिए मैंने प्रस्ताव किया कि चलो, रेस्त्रां में बैठकर कुछ पिएं।

खामोशी में डूबे हुए हम तीनों धीरे-धीरे चाय की चुस्कियां ले रहे थे। मैंने बिल मंगवाया, बैरे को पैसे दिए। ज्ञान चुपचाप बैठा रहा जैसे कुछ हो ही नहीं रहा है। फिर वह एकाएक चौंका और झपटकर बैरे से रुपया छीन लिया और उसे पांच का एक नोट देते हुए घुड़का, 'ले जाओ !'

'नहीं, नहीं, यह क्या कर रहे हो ज्ञान !'

'ना-ना, यह कभी हो सकता है !'

बैरा कुछ क्षण स्तब्ध-सा रहा, फिर मुस्कराकर आगे बढ़ गया।

'अच्छा अब मैं चलता हूं, पूजा-पाठ के लिए देर हो रही है। कल उधर आइए न !'

और हम लोग कुछ कहें, इसके पहले वह हंसता हुआ निकल गया।

मैं खड़ा-खड़ा देखता रहा आंखों में न जाने कितनी अकथ कथा लिये हुए।

'चलिए', पत्नी ने धकेलते हुए कहा तो मैं जैसे जागकर चुपचाप चल पड़ा।

मेरी आंखों में, शाम की छाया में तैरती कितनी सड़कें, कितने रेस्त्रां···कितने सिनेमा घर···कितनी गोष्ठियां उभर आयीं, जो हमारी ऊष्मा से अंकित थीं। मैं आया था साल-भर की थकान मिटाने मगर लगता है कि पूरा बीता साल···अपनी सारी जड़ता लिये मेरी पीठ पर लद गया है और मैं सरकने में असमर्थ हूं···न जाने क्या हो गया है इस ज्ञान को···?

बहुत दिनों बाद जब मैं पत्नी के साथ शाम को इसी रेस्त्रां में बैठा था तो शायद सड़क से गुजरते ज्ञान ने हमें देख लिया था। मैंने भी उसे कनखियों से देख लिया था···फटा पैंट, फटी बनियान, रूखे-सूखे बाल, नंगे पांव···।

गेट पर बैरा उसे भगा रहा था और वह उसे अंग्रेजी में डांटता हुआ मेरी ओर आ रहा था। 'बेवकूफ, तू जानता नहीं मैं कौन हूं···हट जा, मेरे रास्ते से···'

मैं उसे देखता हुआ भी न देखने का बहाना कर रहा था पर वह रह-रहकर मेरी टेबल की ओर इशारा कर रहा था। उसके बाद मैंने भय से देखना बन्द कर दिया और लगा जैसे मैनेजर के इशारे पर चार-पांच बैरे मिलकर उसे उठाकर बाहर फेंक रहे हैं। मैंने कनखियों से देखा, वह बार-बार अपना पेट मलता, अट्टहास करता हुआ चला जा रहा है। मैंने एक राहत की सांस ली।

'बेचारे को बुला लिया होता, आप ही को देखकर तो आ रहे थे।' पत्नी की आवाज थी।

'तुम भी अजीब बात करती हो! देखती नहीं, यहां कैसे-कैसे लोग बैठे हुए हैं। यहां आकर वह न जाने क्या उत्पात करता। लोग इसे तो देखते ही, साथ-साथ हमें भी तो देखते।'

'अरे, देखकर लोग क्या करते? बेचारे पागल हो गए हैं।'

'पागल हो गये हैं तो मैं क्या करूं? मैंने कोई ठेका ले रखा है आगलों-पागलों का? उसके घर वालों ने तो मार-मारकर निकाल दिया है। दूसरे लोग क्या करें?'

'हां, यह तो है', कहकर पत्नी चुप हो गयी।

'दूसरे लोग?' मैं रात-भर अपने से लड़ता हुआ पूछता रहा। क्या मैं ज्ञान के लिए 'दूसरे' लोगों में से हूं? फिर धीरे-धीरे अपने से लड़ने का अहसास एकदम रीत गया। क्या एकदम रीत गया? फिर वह आज कार वाली घटना से आहत होकर इतना सारा अतीत क्यों ले बैठा?

मैंने अपने को अपने बेचैन खयालों से अलग करने के लिए श्रीवास्तव जी से पूछा, 'कहिए, आपका प्रोग्राम कब शुरू होगा?'

'बस, शुरू ही समझिए! आप लोग होटल चल रहे हैं। वहां हाथ-मुंह धोकर खाना खा लीजिए। फिर समारोह में ही चलना है।'

वे चुप हो गए। मैं भी चुप हो गया। मैं बहुत बात नहीं कर पाता। और कुछ देर बाद मैंने अपने को जब खाने की टेबल पर पाया तो लगा कि अनजाने ही फिर जकड़ लिया गया हूं। गरम और ठंडे जल की लकीरें एक साथ मेरे शरीर पर रेंग रही हैं।

मुझे आद आया⋯पिछली बार जब मैं घर आया, तो वह आधी रात को पहुंचा और मुझे सोते से जगा दिया, और जिद करने लगा कि मैं उसकी कविताएं सुनूं। वह मेरे बहुत समझाने पर भी नहीं माना और ढेर-सी कविताएं सुना गया, और प्रतिक्रिया जानने के लिए उत्सुकता व्यक्त करने लगा। न जाने किस खीझ में, न चाहते हुए भी मैंने कह दिया कि कविताएं समझ में नहीं आयीं। ऊल-जलूल हैं।

'हा-हा, हा-हा-हा,' वह बहुत जोर से हंसा। मैं बड़ी असुविधा महसूस करने लगा कि आसपास सोये हुए लोग क्या सोचेंगे।

'तुम्हारी समझ में कैसे आएंगी! इन कविताओं में ईश्वर से

साक्षात्कार की अनुभूति जो है। निराला को भी लोगों ने अपनी नासमझी का शिकार बना दिया और उन्हें पागल कहना शुरू कर दिया···अब मुझे भी···हा-हा-हा !'

'हां-हां, आप ठीक कह रहे हैं !' मैं अपनी बेवकूफी पर पछता रहा था और चाह रहा था कि अब इसे यहां से भाग जाना चाहिए, नहीं तो यह मेरी पतली-सी खाट पर पसर जाएगा। और जब तक मैं और कुछ सोचूं, वह मेरी खाट पर सचमुच पसरकर खर्राटे भरने लगा। और मैं सारी रात रह-रहकर खाट से उठ जाता था और टहलने लगता था।

सबेरे उठा तो वह फिर कविताएं सुनाने लगा और बेहद ऊबा हुआ मैं न उसे जोड़ पाता था, न तोड़ पाता था।

'पिता जी !' मेरे बड़े लड़के कमल ने आकर मुझे पुकारा।

कविता पढ़ना छोड़कर उसने कमल की ओर देखा, 'यह कमल है न?' कहते-कहते उसकी आंखों में एक तरल छाया कांप उठी और बड़े वेग से उठकर उसने कमल को गोद में भर लिया, 'तुम कमल हो न !'

'हुंह छोड़ो', एक घृणा के साथ कमल ने अपने को उसकी बांहों से अलग कर लिया और कुछ देर तक घूरने के बाद चला गया।

'काफी बड़ा हो गया है।' अपने को कुछ अपमानित-सा अनुभव करते हुए उसने कहा।

मैं चुप रहा।

'मेरा भी एक लड़का है, राजीव।'

'अब तो तीन साल का हो गया होगा ?'

'हां, बड़ा प्यारा है। घर जाता हूं तो उसे गोद में खिलाने की बड़ी इच्छा होती है, लेकिन···' उसका गला भर आया था, 'लेकिन घरवाले छीन लेते हैं।' उसकी आंखों में आंसू आ गये। एकाएक फिर ठठाकर वह हंस पड़ा जैसे हवा के झोंके ने बादल के बदरंग टुकड़े को उठाकर फेंक दिया हो।

'खेला करती है', वह न जाने क्या कहना चाहता था।

'कौन ?' मैंने विस्मित होकर पूछा।

'अरे वही, राजीव की मां। वह तो राजीव को मेरी गोद में देखना भी

बरदाश्त नहीं करती। जानते हैं क्यों?'

'नहीं।'

'खेला करती है। और मैं उसका खेल पहचान गया हूं। एक दिन उसे इतना मारा, इतना मारा कि···साली मेरे पास आने से कतराती है और न जाने कहां-कहां खेला करती है।'

मैं कहीं खो गया। वह फिर जोर से हंस पड़ा। मैं उसे देखने लगा। वह हंसता जा रहा था और उसकी आंखों से आंसू झरते जा रहे थे। एकाएक वह झटके से उठा। 'अच्छा पांच रुपये दीजिए, आज गांव जा रहा हूं। राजीव बहुत याद आ रहा है।'

मैंने उसे दो रुपये दिये और वह बार-बार हंसता हुआ चला गया।

'पिता जी, चलिए! ब्रश कर लीजिए। आप तो इस पगले के चक्कर में आकर सब कुछ भूल गए। हम लोग तो सड़क पर इसे चिढ़ाते हैं।'

'चुप रहो कमल! तुम्हें इस तरह नहीं बोलना चाहिए। ये तुम्हारे ज्ञान चाचा हैं। तुम नहीं जानते, इन्होंने तुम्हारे लिए कितना किया है।'

'हुंह, होंगे ज्ञान चाचा अपने घर के।' इस भाव से उसने मुंह बनाया और मुझे अन्दर घसीट ले गया।

'तुम नहीं समझोगे बेटा!' इस भाव से मैंने भी मुंह बनाया और उसके साथ हो लिया। ब्रुश करते-करते अतीत के सपनों की दुनिया से टकराने लगा···कमल उसीके यहां हुआ था। हम चाचा-चाची से किसी बात पर नाराज थे। ज्ञान के आग्रह से हम छुट्टियों में उसी के यहां आकर ठहरे थे। जिस रात कमल हुआ उस रात की भयानकता का तो कहना ही क्या। पानी ऐसा बरसा जैसा कभी नहीं बरसा था। उस अंधेरी-भयानक रात में वह निकल-निकलकर सब कुछ करता रहा। फिर पैदा होने के बाद कमल अक्सर उसी की गोद में रहा। सूर्यमुखी के फूल की तरह कमल को गोद में लिये-लिये वह अपने को कितना सुखी अनुभव करता था! उसने कितना स्नेह उंडेला है कमल की रग-रग में। उसके बाद भी जब कभी उसने सुना कि कमल की तबीयत खराब है लौटती गाड़ी से इलाहाबाद हाजिर! एक तरह से उसने अपने को कमल को दे दिया था और वही कमल···कमल तो कमल, उसका अपना बच्चा उसकी गोद से

छीन लिया जाता है।

'राजीव बहुत प्यारा है···हां-हां, वह मेरा ही बच्चा है,' ज्ञान इस बात को कभी-कभी इतने जोर-शोर से कहता है कि उसकी आंखों में अविश्वास झलक आता।

'जानते हैं भाई साहब, कल मुझसे प्रीता मिलने आयी थी।' वह एका-एक कह उठता।

'प्रीता कौन ?'

'अरे, प्रीता को नहीं जानते ? अरे, मिस बॉम्बे !'

'अच्छा !' आश्चर्य के साथ मैं कह उठता हूं, 'क्या कहती थी ?'

'हा-हा-हा-हा! कहती थी, देखिए मुझसे शादी कर लीजिए। मैंने उसे डांट दिया, क्यों शादी कर लूं ? बोली—इतना भी नहीं जानते ? आप दुनिया के सबसे बड़े 'जीनियस' और मैं सर्वोत्तम सुन्दरी। दोनों के संयोग से जो पैदा होगा, वह तुम जैसा 'जीनियस' और मुझ जैसा सुन्दर होगा।'

'तो आपने क्या कहा ?' मैं मुस्कराते हुए पूछता।

'मैंने उसे डांटकर कह दिया कि तुम नहीं जानतीं, इसका फैसला तो जॉर्ज बर्नार्ड शॉ पहले ही कर चुका है।—जारज बरनाड शा कौन है ? वह बेवकूफ बोली। मैंने कहा—अरे बेवकूफ, जॉर्ज बर्नार्ड शॉ को नहीं जानती है ? जा भाग जा !—मैंने उसे भगा दिया भाई साहब, मुझे फांसने आयी थी। मैं नहीं जानता क्या कि दुनिया की सारी औरतें खेला करती हैं !'

'हूं, करती होंगी,' मैं चुपचाप हामी भरता।

'पता नहीं, देश-विदेश की ये सारी सुन्दरियां मेरे पीछे क्यों पागल हो गयी हैं। सभी मुझे घेरती हैं, सभी मेरी प्रतिभा और चरित्र से ईर्ष्या करती हैं, शादी करके उसे बरबाद करना चाहती हैं। हं-हं, क्या मैं पागल हूं कि इनसे शादी करूंगा ?'

'हां-हां, जरूर पागल हो गयी हैं।' और मुझे पागल शब्द पर हंसी आ जाती। ज्ञान समझता कि मैं उसकी सूझ की दाद दे रहा हूं और वह विह्वल होकर हंसने लगता। उस हंसी के पीछे की पीड़ा देर तक छिपी नहीं रहती और वह झटके से मुड़कर चला जाता पीछे एक लकीर

छोड़ता हुआ। इस लकीर को मैं बहुत दिनों से जानता हूं।

'जानते हैं भाई साहब', इलाहाबाद से आने पर उसने एक दिन बताया, 'यह जो उमेश है न, बड़ा लम्पट है! उसे कल मैंने पीट दिया।'

'क्यों, उसे क्यों मार दिया?' आश्चर्य से मैंने पूछा।

'क्या करूं भाई साहब ? देखते-देखते आजिज आ गया। वह आपके कारण मेरे ही यहां ठहरा था। मेरे साथ आते-जाते उस पानवाली को छेड़ता रहता था। मैंने उसे बहुतेरा समझाया कि यह काम तेरा ठीक नही। तुम मेरे साथ हो, मेरी प्रतिष्ठा भी बिगाड़ोगे और वह पानवाली औरत बड़ी घटिया है। वह नहीं माना छेड़ता ही रहा! बस मुझे गुस्सा आ गया, पीट दिया और कहा—जाओ मेरे यहां से!'

मुझे गुस्सा आ गया। उसे डांटते हुए बोला, 'तुम इस तरह बात-बात में ताव खा जाते हो। तुमने यह भी नहीं सोचा कि वह हम दोनों का मित्र है बल्कि मेरे ही कारण वह तुम्हारे समीप गया था।'

ज्ञान निरुद्वेग भाव से बोला, 'वह फूहड़ आदमी है भाई साहब! पता नहीं कैसे आप ऐसे-ऐसे लोगों को बरदाश्त कर लेते हैं। औरतों को छेड़नेवाले आदमी को मैं कभी सह नहीं पाता। जानते हैं, वह पानवाली बड़ी घटिया औरत है। एक दिन अपने छोटे बच्चे के द्वारा मुझे बुलवा रही थी। मैं तो सब समझता था इसलिए उस लौंडे को डांटकर भगा दिया। अब बताइए, वह कोई मौका पाएगी तो मुझे बदनाम किए बिना छोड़ेगी? और यह अभागा उससे लिपटने को जोर मार रहा था।'

'हूं, ठीक कहते हो।'

और न जाने कितने ऐसे प्रसंगों से हम दोनों के साहचर्य के क्षण अंकित हैं। वह नारी प्रसंग को हमेशा झटककर फेंक देता था, लेकिन अजीब-सी बात यह भी थी कि वह ऐसे प्रसंगों को पहले खुद हां ओढ़ता था फिर झटक देता था।

'जानती हैं भाभी जी, मिस गुलाटी को?'

'कौन गुलाटी?' पत्नी पूछती।

'अरे वही, जो आपकी सहपाठिनी थी।'

'हां-हां, क्या बात हो गयी?' पत्नी मुस्कराती।

'आप कहती थीं न कि वह बड़ी सख्त है ?'

'हां, है तो ! स्कूल में तो थी। अब नहीं जानती।'

'आप नहीं जानतीं उसे ! वह मुझसे मिलने को बहुत उतावली रहती है, मिलने के लिए बहाने खोजती रहती है।'

'हां-हां, क्यों नहीं उतावली होगी। आप जैसा खूबसूरत लड़का उसे कहां मिलेगा ?'

पत्नी को व्यंग्य से मुस्कराता देख वह थोड़ा ताव में आ जाता।

'आप नहीं जानतीं। आप तो इलाहाबाद चली गयीं न। मेरी प्रतिभा की कितनी धाक है, आपको नहीं मालूम। सभी लड़कियां मेरी कविता पर लट्टू हैं !' उसके स्वर में एक कंपन-सा महसूस होता फिर ठठाकर हंस पड़ता। 'लेकिन मैं···अरे मैं इन्हें कुछ खतियाता थोड़े हूं, ये अफसरों और अमीरों की लड़कियां···बूर्ज्वा वर्ग से हमारा कोई सरोकार नहीं है··· बस, मैं इन्हें परेशान करके मजे लेता हूं !'

'अंगूर खट्टे हैं मिस्टर ज्ञान,' पत्नी कोंचती।

'आप मुझे ताव दिला रही हैं ? आप कहें तो आपकी उपस्थिति में ही घर बुला लूं, जिस लड़की को कहें ! लेकिन नहीं, यह काम मेरा नहीं है। मैं इनकी कोई परवाह करता हूं ?'

मैं इस सारी बहस में मौन रहता क्योंकि मैं जानता था कि ज्ञान सचमुच लड़कियों के मामले में बहुत साफ है। यह जो कुछ कह रहा है केवल बहस के लिए कह रहा है।

'तुम अपना परिवार क्यों नहीं लाते ?' कभी-कभी मैं पूछता।

'क्या आफत आ गयी है परिवार लाने की ? परिवार के आते ही यह सारी मस्ती छिन जाएगी भाई साहब।'

'तो तुम अपनी मस्ती के लिए अपनी पत्नी को जेल में डाले हुए हो ? बहुत प्रगतिशील बनते हो न !'

वह बात को टालने के लिए हंसने लगता। हंसते-हंसते ऐसा लगता जैसे उसकी हंसी में कुछ अटक गया है। उसे निकालने के लिए और जोर से हंसता और हंसी पर हंसी की लहर दौड़ती रहती।

और उस दिन मैं न चाहते हुए भी, ज्ञान के विशेष आग्रह पर

इलाहाबाद से एक कवि सम्मेलन में पहुंचा। शाम को हम दोनों सड़क पर घूमने निकल गए। वह बहुत खामोश-खामोश-सा चल रहा था जैसे कोई बहुत गहरी बात कहने की भूमिका बांध रहा हो।

'भाई साहब,' कहकर वह ठिठक गया।

'क्या ?' उसकी ओर मैंने उचटती निगाह से देखा।

'कुछ नहीं,' कहकर वह चलने लगा।

'कहो न,' मैं खड़ा का खड़ा रह गया और वह सिर झुकाए फिर मेरे पास लौट आया।

'आपसे एक राय लेनी है।'

'कहो न' के भाव से मैं चुपचाप उसे देखता रहा।

'चलिए उस पुल पर बैठ जाएं,' उसने प्रस्ताव किया मानो प्रकृतिस्थ होना चाहता हो।

वहां जाकर हम लोग बैठ गए। पुलिया के नीचे पानी की पतली धारा बह रही थी। कुछ देर तक हम मौन भाव से उसकी आवाज सुनते रहे। शरद की गंध चारों ओर एक अद्भुत खुनक भर रही थी।

'भाई साहब, मैं दूसरी शादी करना चाहता हूं,' ज्ञान झटके से कह गया।

'दूसरी शादी ?' चीखता-सा मैं उसकी ओर मुड़ गया।

उसकी झुकी आंखें कुछ ऊपर उठीं, जिनमें न जाने कितने-कितने भाव एक साथ घुमड़ रहे थे।

'हां, दूसरी शादी ! अब अकेलापन बरदाश्त नहीं होता।'

'मगर तुम्हारी शादी तो हो चुकी है। पत्नी को साथ क्यों नहीं रखते ? माना कि वह देहाती है मगर उससे क्या बनता-बिगड़ता है ?'

वह कुछ देर तक जैसे पुलिया के जल की आवाज सुनता रहा फिर बोला, 'आज तक तो आपसे नहीं कहा, सब भीतर ही भीतर पीता रहा, लेकिन अब सोचा, आपसे कह ही दूं। आपसे कहकर जैसे मैं अपना बोझ हलका कर लूंगा।' वह फिर चुप हो गया।

'आप जानते हैं, मेरी शादी बचपन में हो गयी थी,' वह रह-रहकर फूट रहा था, 'ससुरालवालों ने एक अच्छी-सी लड़की दिखाकर दूसरी

लंगड़ी और निहायत कुरूप लड़की मेरे गले बांध दी।'

मैं एकदम स्तब्ध रह गया। वह दूसरी ओर मुंह फेरकर कुछ निहारता रहा और मैं ऊपर से जहां का तहां खड़ा हुआ भीतर से हिल रहा था। न जाने कैसा लग रहा था। ज्ञान जैसे स्वस्थ-सुन्दर और प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति के साथ उसकी काली-कलूटी-लंगड़ी बीवी का जुड़ जाना मेरे भीतर न जाने कैसा-कैसा भाव पैदा कर रहा था।

'चलो लौट चलें ज्ञान, जी नहीं लग रहा है।' और मैं उठ पड़ा। वह भी चुपचाप उठकर मेरे साथ हो लिया। फिर वह हंसने लगा जैसे उसे एकाएक अनुभव हुआ कि उसने नाहक मुझे उदास कर दिया। हंसी, हंसी, हंसी और उसके पीछे न जाने क्या-क्या। यह हंसी ज्ञान की नियति बन गयी है और उसके भीतर वर्षों से ढोयी जाती हुई कुरूप और लंगड़ी जिन्दगी···

'ज्ञान!'

···मैंने अपने खयालों में डूबे हुए कहा तो वह खड़ा हो गया।

'तुमने इतने दिनों बाद, यह नया निर्णय लेने की बात क्यों सोची?'

'निर्णय? निर्णय अभी लिया ही कहां है? वह तो आप पर छोड़ दिया है। अपना मामला है न, दिमाग काम नहीं करता।'

मैं समझ गया उसके भीतर के द्वन्द्व को। आखिर उसने पहला ही निर्णय खुद कहां लिया था? निर्णय तो उस पर उढ़ाया गया था और चाहते हुए भी वह उस निर्णय को बदल नहीं सका। उसके भीतर एक द्वन्द्व जीता आया है कि आखिर उस निर्णय में उस लंगड़ी का निर्णय कहां शामिल है और लंगड़ी और कुरूप होने में भी उसका अपना निर्णय कहां शरीक है? निर्णय···निर्णय···निर्णय···

भगवान् का निर्णय, समाज का निर्णय, मां-बाप का निर्णय और सबके बीच एक निर्णयहीन व्यक्ति अपने ही हारे, टूटे हुए निर्णयों के साथ छटपटाता हुआ···

'और भाई साहब, यह निर्णय करने की भी बात कहां आती? एक सज्जन हैं, पिता जी के दोस्त। वे मेरी सारी स्थितियों को जानते हुए भी अपनी बेटी के निर्णय के लिए मेरे पीछे पड़े हैं। पिता जी भी राजी हैं और

हैं और वो भी राजी है।'

'तुम्हारा मतलब तुम्हारी पत्नी से है न? तब दिक्कत क्या है?'

'दिक्कत तो सबसे बड़ी यही है कि वह राजी है। राजी न होकर तनती तो उससे टकराने से मुझे सुख मिलता लेकिन उसका यह निरीह समर्पण मुझे बार-बार इस नये निर्णय से विचलित करे दे रहा है। कभी-कभी सोचता हूं, आखिर उसका कसूर?'

मुझे बेहद उदास देखकर वह ठठाकर हंस पड़ा, 'जाने दीजिए भाई साहब। इस आगेवाली पुलिया पर बैठ जाइए और अपनी कुछ नयी कविताएं सुनाइए।'

'नहीं, चलो, अब लौट चलें।'

कुछ दिन बाद, मेरे पत्र के जवाब में उसने लिखा कि शादी का विचार उसने छोड़ दिया है, वह एक क्षणिक आवेश था, मैं चिन्ता न करूं। इत्यादि।

निर्णयों में फंसा एक निर्णय···उस पर बहते हुए हंसी के आवर्त्त··· आवर्त्तों में फंसे कितने ही बुदबुदे···भंवर और ज्वार···

लेकिन एक दिन ज्ञान का पत्र पाकर अचकचा गया। उसने लिखा था कि बीस अप्रैल को उसकी शादी है, मैं जरूर पहुंच जाऊं। इससे अधिक कुछ भी नहीं था। शायद जानबूझकर संकट, द्विधा या संकोच से बचने के लिए मेरे सामने उसने यह निर्णय फेंक दिया था···लेकिन मैं उसकी शादी में नहीं जा सका।

और वह दुकेला हो गया। लेकिन तभी से श्यामू मामा का भूत सवार हो गया और न जाने कितनी शंकाओं से घिरी हुई उसकी जीवन यात्रा चलने लगी। और एक दिन वह श्यामू मामा के सिर पर आ उतरी।

'इनसे मिलिए, ये हैं मिस्टर सहाय,' श्रीवास्तव जी मुझे सुनाकर, पास खड़े एक सज्जन की ओर इशारा कर रहे थे।

मैंने भोजन पर से निगाह उठाकर उनकी ओर देखा, 'अरे ये?' मैं ठठाकर हंस पड़ा। सहाय भी मुस्कराने लगे।

'अच्छा-अच्छा, लगता है आप लोग पूर्व परिचित हैं', कहते हुए

मिस्टर श्रीवास्तव झेंपकर आगे बढ़ गए।

'कहिए सहाय साहब ! कैसे हैं ?'...

'अट्ठा, बहोट अट्ठा', पान-भरे मुंह से असहाय होकर सहाय बोले। फिर पान थूककर बोले, 'ज्ञान जी से मुलाकात हुई ?'

'क्यों, उनसे भेंट होने न होने से क्या फ़र्क पड़ता है ?' मेरा मन एक अजीब कसैले स्वाद से भर गया। जो घृणा अभी तक दबाये हुए था वह भीतर ही भीतर घुलकर अपनी ही जीभ के खून की तरह मुंह को बेस्वाद कर गयी।

'क्या बताया जाए, बेचारे पागल हो गये। इस शहर ने अपना एक 'जीनियस' कवि खो दिया।'

मैं बरदाश्त नहीं कर सका और खाना छोड़कर हाथ-मुंह धोने चला गया।

साला हिजड़ा, इसको एक 'जीनियस' के खोने की बड़ी चिन्ता है। और ज्यों-ज्यों मैं इस आदमी से भागता गया वह मुझमें धंसता गया। मुझे लगा कि मुझे कै हो जाएगी। जल्दी-जल्दी जाकर मैंने अपने को बाहर खड़ी कार में फेंक दिया और एक पुराना गीत गुनगुनाने लगा और न जाने कब याद आ गया कि यह गीत तो इसी सहाय ने अपनी विभागीय पत्रिका में छापा था। यह सोचते ही गीत से भी मुझे घृणा हो गयी और इच्छा हुई कि एकबारगी इस गीत को कै कर दूं।

'दो रुपये दीजिए भाई साहब !'

'दो रुपये नहीं है ज्ञान !'

'तो आठ आना ही दे दीजिये। अभी मेरा चेक नहीं आया है, आएगा तो आपको भी रुपयों से ढक दूंगा ! आपको मालूम है न, मुझे दस हजार रुपये महीने मिलने जा रहे हैं। प्रधानमंत्री मेरे यहां आये थे, उन्होंने मुझसे प्रार्थना की है कि मैं वह मैनेजरी का पद संभाल लूं। मैंने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली है, कल से काम पर लगना है।'

दूसरी बार अठन्नी मांगने की प्रक्रिया में उसने बतलाया, 'मैनेजरी संभालने के लिए जब-जब जाता हूं, रास्ते में एक मोटा, हंसता हुआ-सा अजगर मुंह खोले दिखाई पड़ता है। भाई साहब, आप विश्वास नहीं

करेंगे, उसका मुंह सहाय से मिलता-जुलता है और मैं भाग खड़ा होता हूं लेकिन एक दिन इस अजगर को जरूर मारूंगा !'

तीसरी बार वह चवन्नी लेने पर ही राजी हो गया और फिर एक रहस्योद्‌घाटन किया, 'इस बार एक दूसरे मंत्री आए थे और बड़ी आजिजी से बोले—मिस्टर ज्ञान, आप नहीं आ रहे हैं, सारा काम रुका हुआ है। मैं नहीं चाहता कि आप सौ रुपये की क्लर्की पर इस विभाग में सड़ते रहें और वे सौ रुपये तो आपको जेब खर्च मिलते हैं, नौकरी तो आपकी अब शुरू होगी। कल से आ जाइए, जरूर···हा-हा, हा-हा···साले, मैं क्यों जाऊं? इतने-इतने घटिया लोग भरे पड़े हैं चारों ओर। इनके बीच में अपने को कैसे बरदाश्त कर पाऊंगा? साले सौ रुपये मुझे जेब खर्च देते रहो, बस मेरे लिए इतना बहुत है···अच्छा चवन्नी दीजिए, मैं अब चलूंगा, देर हो रही है···'

हां, उस अजगर से सहाय का मुंह मिलता है। निरंजन सहाय, ज्ञान से 'जूनियर', घटिया और विभागीय पत्रिका के संपादक बन गये। ज्ञान कब से इस पत्रिका का संपादक होने को तड़प रहा था। संपादक होते ही उसकी तनखा सौ रुपये से चार सौ रुपये हो जाती।

'भाई साहब, पत्रिका का संपादन मुझी को मिलना चाहिए लेकिन खतरा है निरंजन···'

'क्यों, उसे क्या आता-जाता है। उसे तो न पत्रकारिता की समझ है और न साहित्य की।'

'इतना ही नहीं भाई साहब, वह काम-धाम भी नहीं करता। मैं दिन-भर खटकता रहता हूं और वह घूम-घूमकर साहब की जी-हुज़ूरी करता है। और वह ऊपर से जितना मीठा है उतना ही भीतर से तीता, जहर। लेकिन कोई बात नहीं, यह जगह मैं ही लूंगा, मैं ही लूंगा···मैं सौ रुपये पर अपने को सड़ा नहीं सकता। जब अपने ऊपर बीसों गधों और सूअरों को देखता हूं, तब मैं स्वयं अपने को गंधाने लगता हूं···'

मुझे लगा कि इसे एक और 'गधे और सूअर' को बरदाश्त करना ही पड़ेगा। यद्यपि ज्ञान रह-रहकर एक अटूट विश्वास में डूब जाता था लेकिन सहाय का जो नक्शा उसने खींचा था उससे यह स्पष्ट था कि एक

गधा और ज्ञान पर लदनेवाला है ।

और तब एक दिन, सप्ताह-भर की छुट्टी लेकर ज्ञान इलाहाबाद आ गया । बहुत परेशान था । आते ही बोला, 'भाई साहब, मैं इस्तीफा देने जा रहा हूं । मैं इस अपमानजनक स्थिति में काम नहीं कर सकता ।'

मैं समझ गया कि उसके ऊपर एक और गधा लद ही गया । करता क्या, स्तब्ध-सा बैठा रहा ।

'आप मेरे लिए कहीं कोई नौकरी दिलाइए, मैं वहां नौकरी नहीं करूंगा । मैं गधों और सूअरों के बीच पागल हो जाऊंगा ।'

मैंने उसकी उत्तेजना शान्त होने पर कहा, 'घबड़ाओ नहीं ज्ञान, मैं कोशिश करूंगा । तुम त्यागपत्र मत दो । हां, एक लम्बी छुट्टी ले लो । मुझे तो इसकी आशंका थी ही ।' वह कुछ देर शांत रहा । फिर बोला, 'नीचता की हद होती है भाई साहब । सहाय हिजड़ा है साला । सीधे टकराने की हिम्मत नहीं हुई, तो ब्लैकमेल करना शुरू कर दिया । उसने एक दिन बहुत घृणित स्वर में कहा—मिस्टर ज्ञान, मेरे खिलाफ बहुत चींचपड़ करोगे तो तुम्हारी दूसरी शादी का राज खोल दूंगा और तुम कहीं के न रहोगे ।'

मुझे सहाय के इस व्यवहार पर विस्मय नहीं हुआ फिर भी एक धक्का लगा; पता नहीं सहाय के व्यवहार पर या ज्ञान की दूसरी शादी पर ।

उसने लम्बी छुट्टी ले ली । मैं उसके लिए कुछ भी नहीं कर सका । उत्तेजना शांत होने पर उसे भी अनुभव हुआ कि मेरे जैसा अधिकारहीन प्राध्यापक उसके लिए कुछ भी नहीं कर सकता इसलिए उसने फिर कभी इसकी चर्चा नहीं छेड़ी और छुट्टी समाप्त होते ही फिर अपनी सौ रुपये की नौकरी की ओर सरक गया ।

कार चलने के पहले सहाय भी मेरी बगल में आकर बैठ गया । मैं उसे बरदाश्त करने को अभिशप्त था । कार अधिवेशन की ओर जाने लगी और सहाय मुझसे खोद-खोदकर बातें करने लगा । मैं घृणा से खिड़की की ओर मुंह फेरकर बाहर की तरफ देखने लगा और निर्णय किया कि इससे बात नहीं करूंगा । एकाएक देखा, ज्ञान सड़क पर खड़ा है और

मुझे देखते ही चिल्लाया, 'भाई साहब !'

मैंने झटके से सहाय की ओर मुंह फेर लिया। सहाय ने एक अद्भुत चिपचिपी हंसी से भरी आंखें मेरे चेहरे पर गड़ा दीं और मैं न जाने क्यों उससे जोर-जोर से बातें करने लगा।

आखिरी चिट्ठी

प्रभा की चिट्ठी मिली। यह कोई नयी बात नहीं थी। वह लिखती ही रहती थी। लेकिन मैं हर बार चिट्ठी पाकर थोड़ी देर के लिए उसे मेज पर रख देता था। उसे खोलने में एक अजीब दहशत-सी होती थी। पता नहीं, इसमें कौन-सी नयी अप्रिय सूचना हो। वैसे भी उसकी चिट्ठियां उसकी जीवन यातना की पर्तें खोलती आती थीं। कोई नयी घटनात्मक सूचना न भी हो तो क्या, भीतर स्थित दर्द के खुलते हुए आयाम कम भयावह थे ! हर बार चिट्ठी काफी देर तक कटे हुए पंख की तरह फड़फड़ाती थी फिर मैं आहिस्ता-आहिस्ता उसे यों खोलता था जैसे उसमें कोई भयानक कीड़ा बंद होगा और खुलते ही कूदकर मेरे चेहरे पर डंक मार देगा। इस बार भी यही हुआ। लेकिन इस बार गजब ही हो गया। उसे स्थगित करने के क्रम में उसे मैंने चिट्ठियों के ढेर में डाल दिया और दूसरे कामों में यों खोया कि उसकी याद ही उतर गयी।

सप्ताह-भर बाद पिता जी का पत्र आया। उसे पढ़कर मैं ऐसे उछला जैसे सचमुच आज चिट्ठी से एक कीड़ा उड़कर मेरे चेहरे पर डंक मारने के लिए लपका हो। 'प्रभा !' मैं भीतर-भीतर ही एक बार चिल्लाया, फिर निढाल होकर कुर्सी पर पसर गया। एकाएक मुझे प्रभा की आखिरी चिट्ठी का ध्यान आया, अरे, उसे तो मैं भूल ही गया था। आखिर मेरी इस भूल का कारण क्या है ? उपेक्षा ? प्रभा की उपेक्षा ? नहीं-नहीं, काम की व्यस्तता। नहीं-नहीं, सही बात क्यों नहीं कहते ? क्या चिट्ठी की याद भूलने के पीछे उपेक्षा भाव नहीं रहा ? क्या तुमने यह नहीं सोचा कि आखिर एक ही बात का रोना रोज-रोज कौन सुने ? लोगों ने प्रभा की

उपेक्षा की तो तुम्हें बुरा लगा परन्तु तुमने तो उसकी चिट्ठी की ही उपेक्षा कर दी। उफ, ऐसा नहीं, नहीं-नहीं।

मैं बहुत देर तक हतप्रभ बैठा रहा, धीरे-धीरे उठा, चिट्ठियों के ढेर में से पिछली चिट्ठी खोजकर निकाली, कुछ देर तक उसे देखता रहा जैसे उसे खोलने में डर लग रहा था फिर झटके से लिफाफा फाड़ा और चिट्ठी पढ़ गया।

प्रभा से सीधा मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था लेकिन फिर भी न जाने कितना आत्मीय सम्बन्ध था। वह मेरे ननिहाल की थी, मेरे मामा के घर से उसके पिता का घर सटा हुआ था। ननिहाल के रिश्ते से वह मेरी बहन लगती थी। वह मुझसे चार-पांच साल छोटी थी। प्रभा के पिता और मेरे पिता दोनों ही बनारस में पोस्टेड थे। हमारे मकान की बगल में ही प्रभा का मकान था। हम दोनों साथ खेलते थे, झगड़ते थे, प्यार करते थे। प्रभा से बड़े तीन भाई थे। अंतिम भाई और प्रभा की अवस्था में काफी अन्तर था। शायद प्रभा से पहले कई संतानें मर गयी हों, शायद यों ही बहुत दिन बाद प्रभा का जन्म हो गया हो। उसके दो बड़े भाई अपने परिवार लेकर अन्य शहरों में रहते थे, केवल अंतिम लड़का साथ रहता था। उसने वकालत शुरू की थी। प्रभा के पिता एक बहुत ईमानदार और कर्तव्यपरायण पुलिस ऑफिसर थे। बहुत हंसमुख थे। उनकी आंखों को देखकर बड़ी आश्वस्ति मिलती थी। उनकी बड़ी-बड़ी मूंछों से रुआब नहीं, एक देहाती भोलापन बरसता था। वे प्रभा को बहुत प्यार करते थे। मामी जी (प्रभा की मां) भी बहुत प्यारी औरत थीं, सीधी-सादी, कम पढ़ी-लिखी लेकिन मानवीय ममता से भरपूर।

बहुत अच्छे दिन बीत रहे थे। लेकिन एक दिन सुबह-सुबह प्रभा के घर में कुहराम मच गया। हम सभी दौड़ें आए। पुलिस का एक सिपाही जीप लिए खड़ा था और मामी जी अपना सिर पीट-पीटकर रो रही थीं। उनकी चूड़ियां टूट-फूटकर बिखर गयी थीं, कलाई लहूलुहान हो गयी थी। प्रभा मां का चीखना सुनकर बेतहाशा चीख रही थी। वकील साहब स्तब्ध-से खड़े थे। मालूम हुआ कि मामा जी आज रात को शहर से कुछ दूर डाकुओं के एक गिरोह का मुकाबला करने गये थे। कई डाकुओं को मारकर

आखिर में एक डाकू की गोली से आहत हो गये और वहीं प्राण छोड़ गये।

'मां, धीरज रखो और जीप पर बैठो।' वकील साहब ने कहा। मामी गिरती-पड़ती जीप पर बैठीं, पिता जी भी साथ हो लिये। मां ने प्रभा को पकड़ लिया और मैं प्रभा के साथ बातें करने लगा।

पिता जी ने वहां से लौटने पर बताया कि मामा जी का खून चारों ओर बिखरा हुआ था। मामी जी जाकर वहां भहरा पड़ीं और उनका मुंह देख-देखकर चीखने लगीं, 'जाओ, तुम सब लोग जाओ। मुझे इनसे बातें करने दो। घेरे क्या हुए हो···'

बहुत करुण दृश्य था। सब लोग थोड़ी दूर हट गए। मामी वहां लोटती-पोटती रहीं उनका मुख देख-देखकर जाने क्या-क्या कहती रहीं।

कुछ महीने बाद मामी को वह सरकारी मकान खाली करना पड़ गया। वकील साहब ने कहीं और मकान ले लिया। अब मेरा प्रभा से मिलना लगभग छूट ही गया। पिता जी कभी-कभार वहां जाकर मिल आते थे और मां को सारा हाल-चाल बताते थे। एक दिन मां से कह रहे थे कि वकील साहब की पत्नी मां-बेटी दोनों को डांटती रहती है और कहती है कि 'आखिर ये तीनों भाइयों की मां-बहन हैं, हमीं क्यों इनका बोझ उठाए ?' और वकील साहब ने मौन भाव से इसे स्वीकार कर लिया है।

'हाय, बेचारियों पर क्या बीतती होगी ! जब तक मरद था तब तक वकील-वकीलानी पांव धोकर पीते थे। मरद का साया उठते ही यह हाल हो गया। नाते-रिश्ते कितने झूठे पड़ गए हैं !' मां ने कहा।

'हां-हां।' पिता जी गंभीरता से बोले।

'अब क्या होगा बेचारी का ? जिसके तीन-तीन जवान बेटे हों और तीनों अच्छा कमाते हों, वह अनाथ की तरह घूमे ! हे राम, यह तुम्हारा कौन-सा न्याय है ?' मां दुखी होकर बोले जा रही थीं।

'यह राम का न्याय कहां है, ये न्याय-अन्याय तो आदमी ने खुद बना लिये हैं। बुजुर्गों के प्रति यह उपेक्षा भाव पहले कहां था ? अब देखो, कमाई-धमाई में डूबे हुए लड़के मां-बाप के बेकार होते ही उन्हें बोझ समझने लगते हैं। यह राम का न्याय नहीं है; नयी शिक्षा, नये रहन-सहन और नयी व्यापारिक मनोवृत्ति का न्याय है।' पिता जी ने कहा।

'हे राम, बेचारी कैसे दिन काटेगी !' मां अपनी ही धुन में थीं।

'देवी, यही सबका हाल होना है ! जमाने का रिवाज ही कुछ ऐसा हो गया है।' कहकर पिता जी ने कनखियों से मेरी ओर देखा था।

मां ने आकुल होकर मुझसे पूछा था, 'क्यों रे विनोद, तू भी हम लोगों के साथ ऐसा ही वर्ताव करेगा ?'

'नहीं, मां !' कहकर मैं मां की गोदी में टूट पड़ा था। मां मेरा माथा सहलाने लगी थी और पिताजी हलके-हलके मुस्करा रहे थे।

और एक दिन पिता जी का तबादला हो गया। हम दूसरे शहर में आ गए। अब मैं कॉलेज में पढ़ने लगा था। पिता जी के पास मामी जी की चिट्ठियां आती थीं। पिता जी मां से बात करते, तो मुझे भी उनका हाल मालूम हो जाता और जो कुछ मुझे मालूम हुआ, वह यह था कि तीनों भाइयों ने आपस में सलाह करके यह निर्णय लिया हैं कि मां और बहन बारी-बारी से तीनों भाइयों के पास साल-साल-भर रहेंगी।

'यह क्या हुआ ? मां नहीं हुई जैसे कोई सामान हो गयी ! धिक्कार है ऐसे बेटों को ! अरे, डूब मरो कमबख्तो, चुल्लू-भर पानी में। इतने बड़े-बड़े ओहदे पर काम करने वाले बेटे और सबके सब कमीने, स्वार्थी। किसी के पास इतना बड़ा कलेजा नहीं है कि वह छाती ठोककर कह सके—मां मेरे पास रहेगी। वह मेरी मां है, कोई चावल-दाल का बोरा नहीं।' मां ने उत्तेजित होकर कहा था। पिता जी फिर उसी तरह मुस्करा रहे थे।

तब मैं बी० ए० फाइनल में था। एक दिन प्रभा की चिट्ठी आयी और उस चिट्ठी से ही मालूम हुआ कि वह मैट्रिक का इम्तहान दे रही है। ओह, इतनी बड़ी हो गयी प्रभा ?

और जब उसकी चिट्ठी पढ़कर समाप्त की तो मैं एकदम भारी हो आया। भारी हो आया प्रभा की मैच्यूरिटी से भी और उसकी तकलीफ से भी। उसके लेखन में कितनी प्रौढ़ता है; भाषा में भी और सोच में भी। पत्र में आद्योपान्त एक दार्शनिक कवि बोल रहा है जो किताबों से नहीं, अपनी जिन्दगी से अपना सत्य खींच रहा है। उसका पत्र मेरे भीतर व्याप्त हो गया। मैं सचमुच ही बहुत शर्मिन्दा हुआ। यह नहीं कि प्रभा को मैं

भूल गया था, मैं उसे प्रायः याद करता था और पिता जी और माता जी के संवादों के जरिये मां-बेटी के बारे में सुन-सुनकर दुखी होता था। किन्तु मैंने अपनी ओर से प्रभा को चिट्ठी क्यों नहीं लिखी ? क्यों कभी उसके शहर जाकर उससे मिलने का खयाल नहीं आया ? शायद···शायद··· छोड़िए, सफाई तो कुछ न कुछ दी ही जा सकती है जो सही भी हो सकती है किन्तु क्या कारणों को पार नहीं किया जा सकता ? क्या कारणों से बंधा रह जाना ही पर्याप्त होता है ? अब मैं क्या कह सकता हूं ?

खैर, मैंने चिट्ठी लिखी और चिट्ठियों का आना-जाना होने लगा। और प्रभा की चिट्ठियों में उसकी भावुकता, उसका यातना बोध, सम्बन्धों का व्यर्थता बोध गहराता गया। वह धीरे-धीरे सत्य की अनजानी गहराइयों में उतरती गयी। मैंने उसे कई बार समझाने की कोशिश की कि इस उम्र में इतना सूफियाना अंदाज, इतनी आत्मोन्मुखता ठीक नहीं है, किन्तु वह हमेशा उत्तर देती रही कि मैं और कुछ नहीं, अपने जीवन का सत्य कह रही हूं, इस पर मैं वश नहीं पा रही हूं। ये मेरे भीतर उतरकर मेरी लेखनी से फूट पड़ते हैं। मैं कविताएं भी लिखने लगी हूं। अभी नहीं, फिर कभी भेजूंगी।

मेरा एम० ए० हो गया और प्रभा का इंटर। प्रभा की चिट्ठी से ज्ञात हुआ कि तीनों भाइयों की एक-एक बारी पूरी हो गयी। अब बड़े भइया उन्हें अपने साथ नहीं रखना चाहते और वे नहीं रख रहे हैं इसलिए बाकी दोनों भाइयों को भी न रखने का बहाना मिल गया है। 'किन्तु सच बात तो यह है भइया, कि हम लोग खुद उनके साथ नहीं रहना चाहते। तीनों भाइयों के यहां बारी-बारी से उपेक्षा और अपमान का जो नरक हमने भोगा है उसके बाद फिर उसी नरक में जाने की इच्छा नहीं होती। लेकिन मां है न, वह सोचती है कि मैं यदि इन लड़कों के साथ नहीं रही तो दुनिया मेरे लड़कों को बदनाम करेगी, उन्हें नालायक कहेगी। और कुछ भी हो, जिस मां के साथ जवान बेटी हो, वह उसकी सुरक्षा के बारे में भी तो सोचती ही होगी यद्यपि मेरी क्या सुरक्षा इन परिवारों में हो रही है, मैं खुद नहीं जान पाती। अपमान से मन टूटता है, काम से तन टूटता है। मैं पढ़ना चाहती हूं मगर किसी को मुझे पढ़ाने में रस नहीं। वह

तो मैं मां के पैसों से किताबें खरीदकर पढ़ लेती हूं और इम्तहान की फीस भरकर प्राइवेट परीक्षा दे देती हूं। भगवान् की दया है कि अच्छे नम्बरों से पास हो जाती हूं जब कि इन भाइयों के बच्चे ट्यूशन लगाये जाने पर भी गिरते-पड़ते पास होते हैं। इस बात से भाभियों के कलेजे जल जाते हैं, भाई लोग भी खुश नहीं होते। तरह-तरह की बातें हैं, तरह-तरह की वजहें हैं अपमानित और ताड़ित होने के लिए। भइया···ओह, अब तो तुम्हें भइया लिखते हुए हाथ कांप जाते हैं क्योंकि यह शब्द अब मेरे लिए बहुत बीभत्स और कुरूप हो गया है। लगता है, तुम्हें पत्र लिखते हुए यह शब्द अपना अर्थ पा लेता है। अब मां मुझे लेकर फिर बनारस के अपने परिचित मोहल्ले में आ गयी है। मां के पास न जाने पैसे हैं कि नहीं; हैं तो कितने हैं? वह मुझे कुछ आभास नहीं देती। बहरहाल मैं चाहती हूं कि कोई छोटी-मोटी नौकरी कर लूं। कभी आओ न। अब तो मैं तुम्हें शायद पह-चान भी न पाऊ। कितना समय गुजर गया! मां आजकल बहुत चिंतित और बीमार रहने लगी हैं।'

हां, कितना समय गुजर गया लेकिन बचपन की वे स्मृतियां कितनी ताजा हैं। कितनी शक्ति है, कितना विश्वास है प्रभा के मन में उन क्षणों के सम्बन्धों को लेकर।

एक दिन फिर एक चिट्ठी आयी, 'विनोद भइया, मां मर गयीं। मैं तो एकदम बेसहारा हो गयी। चारों ओर जलता सुनसान ही दिखाई पड़ता है।'

पिता जी प्रभा की मां के देहान्त का समाचार सुनकर बहुत परेशान हो गये। भरी आवाज में बोले, 'अब क्या होगा, इस लड़की का?' मां को तो जैसे काठ मार गया।

पिता जी बनारस जाने की तैयारी करने लगे तो मैंने कहा, 'मैं भी चलूंगा।'

लेकिन पिता जी ने हतोत्साहित कर दिया। कहीं भीतर-भीतर मुझे भी लग रहा था कि प्रभा को इस गम के माहौल में नहीं देखना चाहिए। उसकी चिट्ठियां तो यों ही भारी बना देती हैं। यह परिस्थिति तो मुझे पागल ही बना देगी।

पिता जी लौटकर आये तो हम लोग उनके पास घिर आये । हम सभी चुप थे । 'हे भगवान् !' पिता जी ने उसांस भरी, 'लड़की अनाथ हो गयी। इस तरह गुमसुम हो गयी थी कि देखकर डर लगता था । जानती हो, एक अजीब बात हो गयी । प्रभा की मां मरी तो उनके पास खून से सनी मिट्टी का एक छोटा-सा ढेला मिला । उसके साथ एक चिट्ठी भी कि मेरे पति देव का यह खून मेरी लाश जलाते समय चिता पर रख दिया जाय। लगता है, बेचारी उस ढेले को आत्मा की तरह छिपाये अपने साथ ढो रही थी ।'

'प्रभा का क्या हुआ ? ' मैंने पूछा ।

'हुआ क्या, बड़े भाई ले गये हैं और यह तय हुआ कि सब लोग मिल-कर उसकी कहीं शादी कर दें और जो खर्चा आए उसे बांट लें।'

मुझे लगा कि जिस नरक से वह भागकर आयी थी उसीमें फिर ढकेल दी गयी है। पहले तो मां का सहारा भी था अब किसका सहारा होगा सम्बन्धों के उस बियाबान जंगल में !

काफी दिनों से प्रभा का कोई पत्र नहीं आया । मैंने उसके बड़े भाई के पते पर दो-तीन पत्र लिखे किन्तु जवाब किसीका नहीं आया; पता नहीं क्यों ? पता नहीं उसे मेरे पत्र मिले भी या नहीं, पता नहीं वह पत्र लिखने की मानसिकता में है भी कि नहीं; इस असमंजस ने मुझे बहुत परेशान कर दिया । छह महीने बाद पिता जी के नाम उसकी शादी का निमंत्रणपत्र आया । पिता जी उस दिन बहुत प्रसन्न होकर बोले, 'चलो, बेचारी प्रभा का विवाह हो रहा है। अच्छा है !' मुझे भी लगा कि अच्छा हो रहा है । अब उसका घर होगा । वह गृहस्वामिनी होगी । अब वह अपने को किसी गैर का आश्रित तो नहीं समझेगी । मुझे यह सोचकर बड़ा अजीब लगा कि एक खून से उत्पन्न भाई लोग गैर हो जाते हैं और पराया आदमी अपना हो जाता है ।

मेरी इच्छा थी, प्रभा की शादी में जाने की । पिता जी की भी इच्छा थी मुझे भेजने की । मैं शादी के दो दिन पहले पहुंचना चाहता था ताकि शादी की भीड़-भाड़ होने से पहले प्रभा से बातें कर सकूं । पिता जी ने भी चाहा कि मैं दो दिन पहले पहुंच जाऊं ताकि प्रबन्ध में कुछ हिस्सा बंटा सकूं ।

मैं गाड़ी में बैठा, तो प्रभा को लेकर अनेक कल्पनाएं करने लगा। वह मेरा आना सुनकर दौड़ी आएगी। उसे चिढ़ाऊंगा, उससे ढेर-सी अनर्गल बातें करूंगा, बचपन की यादें दिलाऊंगा। वह हंसेगी, रोएगी, चिढ़ेगी।

मैं जब उसके भाई के घर की ओर जाने के लिए स्कूटर पर बैठा तो प्रभा को देखने की एक अजीब उत्सुकता मेरे मन में थी; कैसी हो गयी होगी प्रभा? देखूं, पहचानती भी है कि नहीं।

पहुंचा तो दरवाजे पर कुछ बच्चे खेल रहे थे। शादी की रौनक के कुछ चिह्न दिखाई नहीं पड़ रहे थे। मुझे सन्देह हुआ कि कहीं गलत जगह तो नहीं पहुंच गया? बच्चों से पूछने पर मालूम पड़ा कि नहीं, मैं ठीक ही जगह आया हूं। तब तक दो बच्चे शोर करते भीतर भागे कि कोई आया है, कोई आया है।

भीतर से एक सज्जन निकले। मुझे सामान लिए हुए देखा तो पूछा, 'कहिए, कहां से आए हैं?'

'कानपुर से। पं० वासुदेव द्विवेदी के यहां से।'

'अच्छा-अच्छा, आइए-आइए। आप विनोदशंकर हैं न?'

'जी!'

'मेरा नाम सुभाष है। मैं प्रभा का बड़ा भाई हूं। माफ करना, मैं पहचान नहीं सका, कितने दिनों बाद देखा है।'

'हां, सचमुच ही तो कितने दिनों बाद देखा है। बनारस में भी आप को एकाध बार ही देखा था।'

'कहिए, फूफा जी कैसे हैं?'

'ठीक हैं।'

मुझे बहुत प्रसन्नता हुई इस आदमी से मिलकर और थोड़ा आश्चर्य भी हुआ कि इतना अच्छा आदमी…अपनी मां और बहन के प्रति सहज आत्मीय व्यवहार क्यों नहीं रख सका?

चाय पी चुका तो पूछा, 'कहां हो रही है प्रभा की शादी?'

'शादी बढ़िया हो रही है, विनोद! लड़का बी० डी० ओ० है, उन्नाव में। उन्नाव से बीस मील दूर एक गांव में घर है। वहां खेती-बाड़ी भी है।

कुछ बड़ा परिवार नहीं है; मां-बाप, एक भाई और एक बहन गांव में है। लड़का बी० डी० ओ० है। जानते ही हो, इसमें अच्छी आमदनी है।'

'विवाह की सारी तैयारी तो हो गयी होगी?'

'हां, हो ही गयी है।'

'और भाई साहब लोग आ गये हैं?'

'आ जाएंगे, आजकल में।'

मुझे बहुत आश्चर्य हुआ कि अभी तक भाई लोग नहीं आये हैं। वे भी जैसे बारातियों के साथ ही आएंगे।

'देखिए, मेरे लायक कोई काम हो तो बताइए। पिता जी ने मुझे दो दिन पहले इसीलिए भेजा है। मैं पहुनाई करने नहीं आया हूं, यह मेरी बहन की शादी है, काम करने आया हूं।'

'सो नाइस आफ यू।' कहकर सुभाष मुस्कराये किन्तु न जाने क्यों फिर उदास हो गये। और मुझे भी लगा कि शायद अनजाने ही मैंने इन पर और इनके भाइयों पर कुछ चोट कर दी है।

चाय-वाय पी चुकने के बाद उन्होंने मुझसे कहा, 'चलिए, बगल के मकान में कुछ कमरे ले रखे हैं, अतिथियों के लिए। यहां तो जगह ही नहीं है और शादी की पों-पों में आपको आराम भी नहीं मिलेगा।'

'अरे, मैं आराम करने थोड़े आया हूं। मुझे काम बताइएगा।' कहता हुआ मैं उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। दो मकान बाद के एक मकान में एक कमरे में उनके साथ मैं दाखिल हुआ।

'कोई जरूरत हो तो बता दीजिएगा।' कहकर वे चले गये।

लगता है, यह मकान शादी के लिए किराये पर लिया गया है मेहमानों के लिए। अभी और कोई आया नहीं है। एक कमरे में सामान रखा हुआ है। उसे ही खोल-बंद करने के लिए कुछ लोग आ-जा रहे हैं। मैं निहायत अकेला पड़ गया हूं। अजीब बोरियत हो रही है। यह कस्बा है। कहीं कुछ घूमने-फिरने लायक भी तो नहीं होगा। मैं दो दिन पहले आया था कुछ काम करने के लिए और प्रभा से इत्मीनान से मिलने और यहां एकदम बोरियत ले बैठा। नहा-धोकर बैठा था कि नाश्ता-पानी आ गया। नाश्ता करके मैं सो गया। दोपहर को आकर किसीने जगाया,

'चलिए, खाना खा लीजिए।' मैं चला तो मुझे विश्वास था कि अब तो प्रभा मिल ही जाएगी। खाना खाते वक्त मैं औरतों और लड़कियों को आते-जाते देखता रहा। सोचता रहा, इनमें से कोई प्रभा होगी। लेकिन किसी भी लड़की के चेहरे पर प्रभा होने की भी उत्सुकता नहीं दिखाई पड़ी। बात क्या है? क्या प्रभा को मेरे आने की खबर नहीं है? क्या उसे मुझसे मिलने की उत्सुकता नहीं है? या क्या वह इन लड़कियों में नहीं है, कहीं और है? मैं बहुत चिंतित हो उठा। कुछ पूछते भी नहीं बनता था। मैंने फिर अपने को धिक्कारा कि तुम इतने बुजदिल क्यों हो? प्रभा तुम्हारी बहन है, कोई प्रेयसी तो नहीं है कि उसकी बात करने या उसके बारे में पूछने से घबरा रहे हो। आत्मधिक्कार से मुझमें बल आ गया और जब खा-पीकर चलने को हुआ तो प्रभा के भाई से पूछा, 'प्रभा बहन कहां है? दिखाई नहीं पड़ती। जरा उससे मिलवाइए! मां ने उससे बहुत कुछ कहने को कहा है।'

'अरे, प्रभा यहीं तो थी। आपने पहचाना नहीं होगा।'

'कैसे पहचानता? बचपन में हम साथ खेलते थे, कितना समय गुजर गया बीच में।'

'अभी बुला रहा हूं।' कहकर सुभाष वहां से चले गए। वे बहुत तत्परता से बात कर रहे थे किन्तु मुझे लगा कि उन्हें खुशी नहीं हुई। पता नहीं क्यों, इस आदमी का सारा सौजन्य, सारा व्यवहार मुझे ऊपरी लग रहा था। शायद वे नहीं चाहते कि मैं प्रभा से मिलूं। यदि वे चाहते तो मेरे आते ही अपने घर के लोगों से परिचय कराया होता, प्रभा से मिलवाया होता। आते ही मुझे घर से बाहर एक दूसरे घर में फेंक दिया। शायद उन्हें डर है कि प्रभा मिलेगी तो अपना दुःख-दर्द कहेगी, उनकी पोल खोल देगी।

थोड़ी देर बैठा रहा, कहीं कुछ नहीं हुआ। सोचा, चलूं यहां से कि देखा, एक लड़की मेरी ओर चली आ रही है, धीरे-धीरे। सौन्दर्य से दीप्त, भरी-भरी लम्बी काया। आकर वह सामने खड़ी हो गयी और निरुद्वेग भाव से दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम किया। मैंने प्रणाम का उत्तर देते हुए पूछा, 'आप प्रभा जी हैं न?'

'पहचानते नहीं, विनोद भइया ? मैं प्रभा जी नहीं, प्रभा हूं !' उसने मंद स्मित के साथ गंभीर स्वर में कहा।

'ओह प्रभा ! कितना समय बीत गया तुम्हें देखे हुए !'

'चलो, इतने दिन बाद तो याद किया ! इतनी बड़ी ज़िन्दगी में इतना विलम्ब विलम्ब नहीं माना जाना चाहिए। हर वस्तु की अपनी नियति होती है, समय की भी एक नियति होती है।'

'ओह, तुम यहां भी दार्शनिक भाषा में बात करने लगीं ! तुम इतनी दार्शनिक क्यों हो गयीं ?'

'दर्शन व्यथापूर्ण मन को शक्ति देता है। जो कुछ हो रहा है उसके होने की तार्किक संगति बैठाता है दर्शन ! यह न होता तो मैं किस भरोसे जी पाती, विनोद भइया !'

मैं भारी हो आया। उसने अनुभव किया इसीलिए वह एकाएक अपनी गंभीरता झटककर हंसने लगी और बोली, 'अरे, छोड़ो इन बातों को ! कहो, बुआ जी कैसी हैं, फूफा जी कैसे हैं ? कभी कोई याद करता है मुझे ?'

'सभी ठीक हैं और तुम्हें तो इतना याद करते हैं कि वे मुझे भूलते जा रहे हैं।'

इसपर हम दोनों खूब हंसे। हमने देखा, कुछ औरत चेहरे चलते-चलते हमें देख लेते हैं, कुछ घूरते हैं, कुछ ठमक जाते हैं।

'और अपनी सुनाओ, अब क्या करने का इरादा है ?'

'एम० ए० हो गया हूं। कोशिश में हूं कि कोई लेक्चररशिप मिल जाए।'

'और शादी-वादी ?'

'वह भी हो जाएगी। आखिर उसे भी तो होना ही होता है। कोई मेरे लिए भी तो शंकर जी को पूजती होगी। बहन की शादी हो रही है तो भाई की भी हो ही जाएगी।'

'हां, हो ही रही है।' वह उदास हो गयी।

मैंने चारों ओर देखा कि कोई झांक तो नहीं रहा है। फिर धीरे से पूछा, 'क्यों प्रभा, तुम इस शादी से खुश नहीं हो ?'

'जो नियति है, उससे खुश और नाखुश क्यों होना चाहिए? जो नियति अभी मेरी थी वही कौन इतनी अच्छी थी कि दूसरी से भयभीत होऊं? दूसरी नियति तो अभी अनजानी है, उसे लेकर कुछ सुन्दर कल्पनाएं की जा सकती हैं। बाकी वह जो होगी सो तो होगी ही।'

वह फिर दार्शनिक मूड में उतर आयी थी।

'जीजा जी क्या हैं?'

'सुना है, बी० डी० ओ०, सी० डी० ओ० हैं।'

उसने जिस तरह बी० डी० ओ०, सी० डी० ओ० कहा था उससे साफ झलक रहा था कि वह इस विवाह से प्रसन्न नहीं है। और ठीक भी है। मैं प्रभा की रुचि जानता हूं; वह कलात्मक है। बी० डी० ओ० उसे कितना सह पाएगा यह आशंका जरूर प्रभा को हो रही होगी।

'तुम्हारे और भाई लोग नहीं आए?'

'कौन भाई लोग?'

'अरे, तुम्हारे अन्य दो भाई?'

'हां, भाई लोग। वे लोग बारात के साथ आएंगे। उन्हें आने की फुरसत नहीं मिल रही होगी। खैर, मेरा असली भाई तो समय से आ ही गया।' कहकर वह मुझे देखने लगी।

मुझे अजीब-सा लगा।

'प्रभा···ओ प्रभा···अरे, चलो-चलो, बहुत-से काम करने हैं। बैठने से काम नहीं चलेगा।'

'भाभी हैं, वह चाहती हैं कि मैं अब यहां देर तक न बैठूं। चलूं, दो दिन और झेलने हैं, झेल लूं। फिर मिलेंगे। मेरी ससुराल कभी-कभी आते रहना।' वह उठकर चली गयी।

मैं धीरे-धीरे उठकर बाहर आया और अपने कमरे में चला आया। सोया। उठा। थोड़ा कस्बा घूमा। भाई साहब से फिर कहा कि कुछ काम बताइए। उन्होंने टाल दिया। शाम को खाना खाते समय प्रभा फिर दिखाई पड़ी। रात को सोचने लगा कि अभी कल का दिन पड़ा है, परसों शायद शाम तक बारात आएगी। तब तक क्या करूंगा? इच्छा हुई, चुपचाप घर लौट जाऊं लेकिन मेरे इस तरह लौटने का कुफल प्रभा को

भोगना पड़ेगा। न जाने लोग उसे क्या-क्या कहेंगे? नहीं गया। ऐसे ही घूम-फिरकर, खा-पीकर समय बिताया।

बारात आयी। बी० डी० ओ० साहब की भोंड़ी-सी क्रूर शक्ल देखते ही मेरा मन तीता हो गया। क्या भाइयों ने इन्हें देखा नहीं था? क्या अपनी बहन के रूप के साथ इनकी शक्ल-सूरत का मेल नहीं बैठाया? लगता है कि प्रभा को घर से निकालना ही उनका प्रमुख उद्देश्य था फिर वह चाहे जहां भी जा गिरे। बारात आने के दिन और भाई भी आ गए थे।

प्रभा विदा होने लगी तो रोयी नहीं। आंखों में उदास खामोशी का गहरा दबाव लिये वह अपने परिजनों से विदा ले रही थी। मैं किनारे खड़ा था। मुझे देखा, हाथ जोड़कर नमस्कार किया, झट से कार में जा बैठी और फफककर रो पड़ी। मैं समझ गया कि मुझे देखते ही उसकी सारी खामोश जड़ता टूट गयी लेकिन मेरे सामने रोना उसने लोकदृष्टि से उचित नहीं समझा और झट से कार में बैठकर फफक पड़ी।

मैंने भी उसके दो घंटे बाद को गाड़ी पकड़ ली और घर लौट आया था। भगवान् से प्रार्थना की थी कि प्रभा को उसकी ससुराल में सुखी रखे।

लेकिन भगवान् ने मेरी एक नहीं सुनी। पता नहीं, वह किसी की सुनता भी है या नहीं? प्रभा की चिट्ठियां आती रहीं। पहले तो उसने छिपाया लेकिन बाद में खुलती गयी। उसकी चिट्ठियों से मालूम पड़ा कि बी० डी० ओ० साहब ने उसे अपनी मां के पास गांव में पटक दिया है; खुद कस्बे में रहते हैं। महीने-दो महीने में कभी-कभार आ जाते हैं और अपनी मां तथा बहन से उसके विरुद्ध शिकायतें सुनते हैं और फिर सभी मिलकर समवेत स्वर में उसका प्रशस्ति गान शुरू करते हैं और पीटते हैं। उनकी शिकायत है कि वह दरिद्र की बेटी की तरह आयी है और घर के काम-काज में मन न लगाकर किताबें पढ़ती है और न जाने क्या लिखती रहती है।

'क्या लिखती रहती हो?—उन्होंने पूछा।'

'अरे, घर की शिकायत लिखती होगी, और क्या लिखेगी!—मां ने कहा। बहन ने भी दुहराया। दोनों अपढ़ हैं। बी० डी० ओ० साहब को तो देख ही चुके हो वे भी इसी खान में से निकले हैं। बोले:

'चलो दिखाओ, क्या लिखती हो ?

'अरे, कुछ नहीं लिखती हूं; वैसे ही जी में आता है तो कागज गोंजने लगती हूं।

'नहीं-नहीं, दिखाओ !—कहकर वे मुझे घसीटते हुए अन्दर ले गए और मेरी किताबें और कागज इधर-उधर फेंकने लगे—कहां है तुम्हारा लिखा हुआ ? इसे लाइब्रेरी बना रखा है ? घर में काम नहीं करेगी, लाइब्रेरी बनाएगी ! कहां है वह कागज ?—तब तक मेरी डायरी उनके हाथ पड़ गयी —यही है ?'

'जी !—मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया।

'और वे उसे खोलकर पढ़ने लगे। उनके पास उनकी मां और बहन भी आ गयी थीं। उनके पढ़ने का ढंग बहुत विद्रूप-भरा था। उनकी विद्रूप मुद्रा पर उनकी मां और बहन हंस रही थीं।

'यह सब क्या वाहियात चीजें हैं, यह क्या अनाप-सनाप लिखा है ! यह कोई कविता है ? कहीं पागल तो नहीं हो गयी है !—और उन्होंने डायरी फाड़नी शुरू कर दी।

'अरे रे, यह क्या करते हैं आप ?—कहकर मैं झपटी। उन्होंने धक्का देकर मुझे गिरा दिया, दो लातें मारी और डायरी फाड़कर चिंदी-चिंदी कर दी। फिर उन्होंने हिदायत कर दी कि यह सब वाहियात बातें छोड़ो और घर के काम-काज में मन लगाओ।

'काम तो करती हूं। यह सब तो काम-काज के बाद लिखती हूं।—मैंने कहना चाहा।

'तो क्या मां झूठ बोलती है ?—उन्होंने गरजकर पूछा।

'मैं कैसे कहती कि झूठ बोल रही है, चुप रही। लेकिन भीतर-भीतर एक आग उठी। इच्छा हुई, इस बुढ़िया को धक्का देकर जमीन पर पटक दूं और बी० डी० ओ० साहब से कहूं, जाइए, अपना घूस-घास का काम देखिए। आपके बाप-दादों ने भी कभी कविता पढ़ी और समझी है ? और कहूं कि क्या इस खूसट बुढ़िया और इस छिछोरी बहन के लिए मुझे ब्याह-कर लाए थे ? लेकिन कैसे कहती यह ? वे मेरे पूज्य पति हैं, स्वामी हैं; लोक और शास्त्र दोनों इनकी और इनकी मां की पूजा करने को कहते

हैं। फिर कभी।'

'फिर कभी ?' क्या 'फिर कभी ?' 'फिर कभी' के साथ प्रभा ने अपनी चिट्ठी समाप्त की थी और मैं 'फिर कभी' के चक्कर में पड़ गया। फिर कभी चिट्ठी लिखेगी या उसके मन के भीतर उभरने के लिए जो विद्रोह मचल रहा है उसे फिर कभी उभरने देगी, अभी नहीं ? शायद दोनों ही बातें हैं।

प्रभा की चिट्ठियां आती रहीं। बस हाल-चाल। उसने मुझे उसके हाल के बारे में चिट्ठी लिखने से मना कर दिया था। पता नहीं, किसके हाथ पड़े और वह समझे कि बाहरवालों से घर की शिकायत करती रहती है। उसने मुझे केवल अपने घर का हाल-चाल लिखने को कहा था। लेकिन हाल-चाल वाली उसकी चिट्ठियों में भी एक बन्द व्यथा या आग रहा करती थी: 'घरवालों के व्यवहार कटु होते जा रहे हैं। हां, बेचारे श्वसुर जी अच्छे हैं लेकिन पत्नी के आगे उनकी चलती नहीं। रिटायर्ड आदमी हैं, बेबस ! कभी-कभी वे अपनी पत्नी और बेटी को डांटते हैं कि तुम लोग क्यों बहू को परेशान करते हो तो सासजी डांट देती हैं—तुम चुप रहो जी, खाओ-पियो और राम-राम जपो !

'देवर भी अच्छा है, लेकिन उसकी औकात क्या ? वह छोटा है, आठवीं में पढ़ता है। मुझे प्यार करता है। मेरे पास बैठता है, प्यारी-प्यारी बातें करता है और फिर डांट खाता है। विनोद, मैं कविता लिखना नहीं छोड़ सकती; वह मेरा जीवन बन गयी है। और सहारा ही किसका है ?··· अब तो चित्र भी बनाने लगी हूं। कभी भेजूंगी। मैं निकम्मी घरेलू औरत बनकर नहीं जी सकती। मैंने उनसे कह दिया है कि मुझे अपने साथ ले चलिए; मैं यहां नहीं रह सकती। मैं जिन्दगी जीना चाहती हूं, इसे केवल दूसरों की अर्थहीन खुशी के लिए शव की तरह अपने कंधे पर ढोना नहीं चाहती। या तो जिन्दा रहूंगी या शव ही बन जाऊंगी। जीवित शव मैं नहीं बन सकती। लेकिन वे तैयार नहीं हुए। उन्होंने मुझे बहुत भला-बुरा कहा। लगता है, विनोद भइया, कोई अभिशाप मेरे जीवन के साथ शुरू से लग गया है नहीं तो पिता जी क्यों मरते, मां मुझे छोड़कर क्यों चली जाती और तीन-तीन भाई मुझे प्यार और शक्ति देने के स्थान पर

तिरस्कार और अशक्ति क्यों देते ? और उनसे छूटकर भी मैं ससुराल के ऐसे परिवार में क्यों गिरती ? लगता है, कहीं कोई नियति है, कुछ पहले से तय है। लेकिन मैं यह नियति ढोने से हमेशा इनकार करती रही, मेरी पीड़ा का एक राज यह भी तो है ! लेकिन मैं क्या करूं, इस नियति के दबाव में रेंगना मैं नहीं चाहती, मैं खड़ी होकर चलना चाहती हूं, विनोद भइया ! खड़ी होकर चलने के लिए ही तो मैंने कलाओं का सहारा लिया है। और सहारा ही क्या है ? क्या तलाक ले लूं ? लेकिन वे तलाक देने ही क्यों लगे ! और तलाक लेकर भी क्या करूंगी, कहां जाऊंगी ? नौकरी कौन-सी मिलेगी मुझे ? बी० ए० पास नहीं कर सकी, इम्तिहान देने से पहले ही शादी हो गयी। और एक बच्चे की जिन्दगी भी तो ढो रही हूं पेट में। कुछ समझ में नहीं आता क्या करूं ? अच्छा छोड़ो, तुम्हें बहुत बोर किया। फिर कभी।'

लगा, जैसे प्रभा चक्रव्यूह में फंस गयी है; निकलना चाहती है लेकिन जितना ही निकलने के लिए हाथ-पांव मार रही है उतना ही अधिक फंसती जा रही है मगर मैं क्या करूं ? सगी बहन होती तो कुछ करता भी, यहां तो दाल-भात में मूसरचंद की स्थिति हो जाएगी। पता नहीं मेरे पत्र देखकर घरवाले क्या सोचते हों। बहुत छोटी मानसिकता के लोग हैं। वे जरूर पूछते होंगे कि यह कौन है ? हो सकता है, संदेह भी करते हों। प्रभा ने एक बार इशारा भी किया था। मुझे विश्वास है, प्रभा अपने भाइयों को कुछ नहीं बताती होगी शायद उन्हें चिट्ठी भी नहीं लिखती होगी। क्या किया जाए कुछ समझ नहीं आता। थम-थमकर ऐसे ही चिट्ठियां आती रहीं और मैं थम-थमकर इसी मन:स्थिति में आ जाता था। उसे कुछ लिख भी तो नहीं सकता था, उसने मना जो कर रखा था।

फिर एक पत्र। उसने लिखा था, 'पतिदेव से मेरी लड़ाई हो गयी। मैं घर में उनकी उपस्थिति में ही अपने कमरे में बैठी एक चित्र बना रही थी। उसी में तन्मय थी। शायद पतिदेव ने आवाज दी होगी। मैंने सुनी नहीं। एकाएक बूढ़ी की आवाज सुनायी दी—सुनेगी कैसे ? किसी यार को चिट्ठी लिख रही होगी या कुछ गोंज-गांज रही होगी।—मैं चौंक उठी।

पतिदेव धड़ाके से अन्दर आए और डपटकर पूछा—सुनती नहीं हो? क्या कर रही हो?

'कुछ नहीं, यों ही मन बहला रही थी।

'देखूं तो, क्या कर रही हो?—कहकर वे मेरे चित्र की ओर झपट पड़े। बोले—यह क्या? कुत्ता, भेड़िया, अजगर···यह सब क्या हैं? पागल तो नहीं हो गयी हो! तुम्हारे दिमाग में दुनिया-भर की खुराफात कहां से भर गयी है?—मैं कुछ बोली नहीं। उन्होंने चित्र को उठाया तो मैंने निरुद्वेग भाव से कहा—देखिए, फाड़िएगा नहीं!—उन्होंने मुझे निरुद्वेग देखा तो क्रुद्ध हो उठे। बोले—फाड़ दूं तो?

'तो फिर बनाऊंगी।

'फिर फाड़ दूं तो?

'तो फिर बनाऊंगी।

'उन्होंने पांच बार फाड़ने की बात कही, मैंने हर बार फिर बनाने की बात कही।

'तो जहन्नुम में जाओ!—कहकर उन्होंने तख्ती समेत मेरा चित्र जमीन पर फेंक दिया। मैं भीतर-भीतर बहुत प्रसन्न हुई, अपनी जीत पर। लगा कि मैं अपनी भीतरी ताकत से जी सकती हूं। लेकिन कमरे के बाहर गाली-गलौज चलती रही। ससुरजी की आवाज आयी—तुम लोग क्यों उस लड़की को बर्बाद करने पर तुले हो? तुम क्यों नहीं उसे साथ ले जाते?

'तुम चुप रहो, जी!—सास जी डपटीं।

'तुम ही चुप रहो, आज तक मैं बहुत चुप रहा। देखता हूं, तुम लोग मिल-जुलकर एक देवी-सी लड़की का नाश कर दोगे। क्या बिगाड़ा है उसने तुम लोगों का? देखते-देखते कोफ्त हो गयी!—उन्होंने सीधे बी० डी० ओ० साहब से पूछा—क्यों जी, तुम उसे साथ रखने में कौन-सी असुविधा महसूस करते हो? वहां कोई रखैल तो नहीं रख ली है?—इसके बाद तीनों ने मिलकर पिता जी की जो दुर्गति की वह अकल्पनीय थी। देवर आंखों में तरलता भर-भरकर मुझे कई बार देख गया और फिर रोने लगा। मैं कमरे में थी, बाहर निकली और श्वसुर जी से प्रार्थना की—पिता जी, आप कृपा करके मेरे लिए इन लोगों से कुछ मत कहिए! मैं जो

भोगना है भोग लूंगी, लेकिन आप जैसे देवता का अपमान मेरे लिए बहुत कष्टकर होगा।

'अरे, ये सब चाहे मेरी चमड़ी ही नोच लें, लेकिन मैं सही बात जरूर कहूंगा!—बहुत शोर-शराबे के बाद वह कांड समाप्त समाप्त हुआ लेकिन मेरे मन में एक असमंजस पैठ गया कि क्या सचमुच बी० डी० ओ० महाराज ने कस्बे में कोई रखैल रख ली है और इसीलिए मुझे साथ नहीं रखते? रख ली हो तो रख लें, मुझे तो अपने हाल पर छोड़ दें। फिर कभी...'

और फिर एक पत्र: 'बेटी पैदा हुई है। बहुत प्यारी-सी है। किन्तु सारा घर बौखलाया हुआ है कि मैंने बेटा क्यों नहीं पैदा किया। रोज दो-चार ताने सुनने पड़ते हैं। केवल श्वसुर जी और देवर उसे मन से खिलाते हैं। सास और ननद तो उसे छूती ही नहीं। मुझे तो जीने का एक और सहारा मिल गया है, विनोद भइया। वह साक्षात् कला मालूम पड़ती है। उसके साथ अपने खाली क्षणों को भरती हूं और सार्थक करती हूं। चित्र भी इसी के बनाती हूं और कविताएं भी इसी पर लिखती हूं। सास जी इस बच्ची के साथ मेरे मगन होने पर भी गालियां सुनाती हैं—एक तो कलमुंही ने लड़की जनी, दूसरे उसे छाती में चिपकाकर घर-द्वार की सुध-बुध ही भूल गयी है।—उसका चित्र तुम्हें भेज रही हूं। फिर कभी।'

चित्र बहुत प्यारा था। बच्ची तो सुन्दर होगी ही; उसमें चित्रकार मां का सारा अनुराग और सौन्दर्य-बोध जो घुल गया है। अच्छा हुआ, प्रभा को एक सहारा मिल गया।

इस बार बहुत दिनों तक पत्र नहीं आया। मेरा जी हल्का हो गया कि चलो, प्रभा का मन अपनी बिटिया में रम गया। फिर एक छोटा-सा पत्र आया:

'माफ करना विनोद भइया, तुम्हें पत्र नहीं लिख सकी। बीमार हूं। बीमारी का पता नहीं चल रहा है। लेकिन घबराओ नहीं, ठीक हो जाऊंगी। फिर कभी।'

मैं लेक्चरर बन गया था और मेरी शादी भी एक लेक्चरर लड़की से हो गयी थी। मैं धीरे-धीरे अपनी गृहस्थी में डूब गया था लेकिन बीच में

प्रभा की चिट्ठी आकर उसकी याद जगा जाती थी। अब लगातार छोटी-छोटी चिट्ठियां आ रही थीं। उनमें उसकी बीमारी के गहराते जाने की सूचना होती थी। ऐसा लगता था जैसे वह दो-चार पंक्तियां लिखते-लिखते थक जाती थी। घरवालों की उस ऊब और यातनाप्रद व्यवहार का भी संकेत होता था जो उसकी बीमारी के साथ बढ़ता जा रहा था।

एक दिन एक पुलिंदा मिला। खोला। प्रभा के बनाए हुए चित्र थे। करीब पचास रहे होंगे। पुलिंदे के साथ एक चिट्ठी थी: 'ये चित्र भेज रही हूं। पता नहीं ये तुम्हें कैसे लगें लेकिन ये मेरे खून से बनाये गए चित्र हैं। घबराओ नहीं, सचमुच मैंने अंगुली काट-काटकर खून निकाल-निकालकर चित्र नहीं बनाये हैं फिर भी ये मेरे खून से बने हैं। मेरा पता नहीं क्या हो। ये मेरे चित्र यहां फालतू कागज मानकर फेंक दिए जाते। ये तुम्हारे पास सुरक्षित रहेंगे। बेटी यदि जिन्दा बचे तो बड़ी होने पर उसे दे देना ताकि वह इन चित्रों के जरिए अपनी मां को पहचान सके। कविताएं भी भेजूंगी, उन्हें फेयर कर रही हूं। फिर कभी।'

मैंने देखा कुछ रेखाचित्र थे, कुछ स्याही से बनाए गए थे; विशेषतया लाल स्याही से, कुछ लाल पेंसिल से। हां, उस बेचारी को विविध रंग कहां से मिलते? कौन लाकर देता? इन चित्रों में कहीं उदासी थी, कहीं अवसाद था, कहीं विद्रोह था। एक चिड़िया आकाश में उड़ रही है और एक बहेलिये का जाल उसका पीछा कर रहा है। एक मंदिर है, जिसमें कुछ वनमानुष कीर्तन कर रहे हैं। एक बच्चा है जिसकी मासूम आंखें अपने पिता की भयानक आंखों के सामने भय से स्तब्ध हो गयी हैं। जाड़े की उदास शाम में बियाबान में एक यात्री भटका हुआ है। शस्त्रों से लदे कुछ पांव वसंत की फूलों भरी घाटी को रौंद रहे हैं। लाल जीभ निकाले हुए एक अजगर एक मृगछौने पर घात लगाए बैठा है। जंगल में जलती आग, दिशाओं को जलाती लाल-लाल दोपहरी। घाटी को जलाते पलाश के लाल-लाल फूल, ताजा घाव से झरती खून की धारा, समुद्र में डूबती लाल-लाल शाम और बहुत कुछ। न जाने कितने संक्रांत भाव इन चित्रों में हैं, न जाने ये किन-किन अर्थों के बिंब हैं, न जाने प्रभा किन-किन रूपों में खुद भी इन बिंबों में है। मैंने ये चित्र सहेजकर अपने बक्स

में रख लिये। पत्नी से जिक्र नहीं किया। मैं तो उद्विग्न हो ही रहा था, पत्नी को भी क्यों उद्विग्न करूं ?

और यह आखिरी चिट्ठी। मैंने अब ध्यान दिया कि इसमें अंत में 'फिर कभी' नहीं लिखा था। इसलिए मैं इसी चिट्ठी को बार-बार पढ़ने लगा। सोचने लगा, कविताएं शायद आती हों या शायद मरते समय तक फेयर न हो सकी हों और अब गैरजरूरी कागज समझकर घर वालों द्वारा फाड़-कर फेंक दी जाएं। एक बार फिर यह चिट्ठी आद्योपांत पढ़ गया :

भइया,

यह मेरी आखिरी चिट्ठी है। मैं जा रही हूं। इस दुनिया में तुम्हारे सिवाय और कोई नहीं है जिससे मैं आखिरी शब्द भी कह सकूं। मैं अपनी बेटी और अपनी कहानी छोड़े जा रही हूं। दोनों एक ही हैं। हां, भइया, दोनों एक ही हैं। मेरी बेटी के माध्यम से फिर मेरी कहानी की पुनरावृत्ति होगी, दोनों को शायद कोई नहीं स्वीकारेगा। एक मां को मरते समय अपनी बेटी को अपनी कहानी से शापित नहीं करना चाहिए, यह मैं जानती हूं भइया। लेकिन क्या करूं, जिस अकेलेपन और संबंधहीनता के जंगल में बेटी को छोड़कर जा रही हूं उसमें उसकी और गति ही क्या हो सकती है ? कौन है जो उसे संभालेगा ? कहने को तो उसकी दादी भी हैं, बाप भी है लेकिन ये सब केवल कहने के लिए हैं, उसकी सुरक्षा के लिए नहीं हैं; संबंधों की बेड़ी जकड़ने के लिए हैं। शायद इन संबंधों से मुक्त होकर वह अपने भाग्य के सहारे जी भी लेती लेकिन इन संबंधों की जकड़न में वह मेरी या मुझ जैसी लड़कियों की कहानी की पुनरावृत्ति ही करेगी। संबंधों की ये बेड़ियां न होतीं तो शायद तुमसे एक बार साहस करके कहती कि मेरी थाती को सभालना और मेरी कहानी की पुनरावृत्ति से इसे बचाना। लेकिन संबंधों के भयावह यथार्थ को मैं जानती हूं। ये न सुरक्षा देते हैं, न मुक्त करते हैं केवल अपने पूरे बोझ से आदमी पर लदे होते हैं। और मैं तुम पर अपना बोझ डालती भी तो किस अधिकार से ! जब मेरे भाई, पति, सास सभी ने अपने संबंधों से जकड़कर केवल मारा-पीटा, केवल उपेक्षा की, केवल जहर दिया फिर तुमसे मेरा क्या संबंध ?

नहीं, मैं भूल रही हूं, कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है तभी तो तुमसे मैं यह सब कुछ कह रही हूं। शायद जाने-पहचाने संबंधों से परे भी एक संबंध होता है जो आरोपित नहीं होता स्वयं बनाया गया होता है। जो अधिक मानवीय और विश्वस्त होता है। इस जीवन में तुमसे जो प्यार और आत्मीयता पा सकी उसी से लगा कि यह जीवन है; नहीं तो जीवन लगने जैसी और क्या बात थी इस प्यासे जीवन में ? चलते-चलते तुम्हें एक बात बताऊं। मां ने पिता जी के मरने पर उनके खून से सनी मिट्टी का एक टुकड़ा सहेजकर रख लिया था। मां के मरते समय मैंने मिट्टी के उस टुकड़े में से थोड़ा निकाल लिया था। और आज खुद मरते समय उसे अपने ब्लाउज के नीचे रख ले रही हूं। मां और पिता जी के सम्बन्धों की ऊष्मा मुझे अपने दांपत्य जीवन में कहां मिली ? यह तो ठीक उसके उल्टा जीवन मिला। प्यार के सम्बन्ध की ऊष्मा महसूस करने के लिए उसे छाती से चिपकाये मर रही हूं। अच्छा भइया, अलविदा···अलविदा···

तुम्हारी बहन
प्रभा

तो प्रभा चली गयी ? न जाने कैसा-कैसा लग रहा था। एक अवसन्न उदासी ने मन को ग्रस लिया था किन्तु भीतर-भीतर कहीं चित्त हलका भी हो रहा था कि चलो, प्रभा को मुक्ति मिली; रोज-रोज के मरने से मुक्त हो गयी प्रभा। लेकिन उसकी बेटी ? अनाथ, निराश्रित और नारी की वही कहानी दुहराने के लिए अकेली छोड़ दी गयी बेटी। उसका क्या होगा ? लगा, जैसे सूनी रेत के विस्तार में मछली की तरह सोयी हुई एक लड़की हाथ-पांव फेंककर रो रही है, रोते-रोते उसका गला बैठ गया है। कोई नहीं है सुनने वाला, कोई नहीं है देखने वाला।

मैं सोचता हूं, उठा लूं उसे लेकिन देखता हूं, दूर खड़े होकर कुछ लोग सावधान हैं कि उसे कोई उठाने न पाए। और फिर मेरे अपने पांव भी तो उलझे हुए हैं अपनी परिस्थितियों के जाल में। कहां उठ पाएंगे आसानी से ?

नहीं, मुझे इतना निराश नहीं होना चाहिए। प्रभा की बेटी एक

विद्रोह की कविता है; उसके प्यार और आग-भरे हृदय से फूटी एक मूर्त्त कविता। वह घूरे पर नहीं फेंकी जा सकती। वह अवरोध पाकर और ऊपर उठेगी, वह अपनी ही लपटों की झालर में अपनी रक्षा करेगी। प्रभा ने एक नयी शुरुआत की है जिसमें वह खुद तो होम हो गयी किन्तु होम होकर उसने जो ताप और दीप्ति दी है वह कभी नहीं मरेगी।

वसंत का एक दिन

लगता है, जयराम फिर आ गया है। तिर-तेंतें, तिर-तेंतें···कुकुही (छोटी सारंगी) बज रही है। एक बुदबुदाहट गांव में रेंगी, लेकिन कोई हलचल पैदा नहीं हुई। हां, कुछ बच्चे कौतूहलवश वनखंडी की ओर दौड़े और जयराम को घेरकर खड़े हो गए।

पलाश फूल गए थे, वनखंडी में जैसे आग लग गयी हो। फागुनी हवा सूखे पत्तों को लुटाती, जलते फूलों को अपनी सांस से और दहकाती, फसलों को गुदगुदाती सर्राटे भर रही थी।

जयराम थोड़ी देर तक इन फूलों को सुन्न दृष्टि से देखता रहा फिर एक पेड़ के नीचे बैठ गया। कुकुही को छुआ, वह सिहरी फिर सिसकने लगी, फिर उमड़-घुमड़कर रोने लगी। जयराम देर तक कुकुही में डूबा रहा—तिर तें-तें, तिर तें-तें···

काफी देर बाद अपने से बाहर आकर उसने सामने देखा। गांव के कुछ बच्चे खड़े थे। वह मुस्कराया। बच्चे कुछ देर तक उसे देखते रहे, फिर 'पगला' कहकर भाग खड़े हुए।

जयराम फिर मुस्कराया। उसने फिर सामने फैले लहलहाते खेतों को हसरत-भरी नजर से देखा जो अब पराये हो गए थे। वह धीरे-धीरे उठा, खेत के पास गया। कुछ क्षण मौन भाव से देखता रहा; झुककर खेत से एक मुट्ठी मिट्टी उठा ली, सिर पर लगायी फिर फफककर रो पड़ा। गेहूं की एक बाली तोड़कर अपने गालों पर फेरता रहा। फिर धीरे-धीरे अपनी जगह पर लौट आया। कुकुही फिर कांपी और रो पड़ी।

फु-फु-फु-रे-ए-ए···

कुकुही फिर चुप हो रही थी। जयराम खयालों में डूब रहा था··· हां, यही उसका गांव है जहां वह पैदा हुआ है, पला है। आज फिर वह साल-भर बाद लौटा है। मगर जाए कहां? कोई तो अपना नहीं। वह धीरे-धीरे घुटनों पर सिर झुकाते-झुकाते कहीं खो गया।

सामने के खेत तो उसी के हैं जिन्हें चाचा ने धूर्तता से हथिया लिया। वह मुस्कराया, चाचा नामक चीज भी कितनी ऊंचे दरजे की होती है! वाह रे चाचा, तुमने खूब मेरे पिता जी के प्यार का बदला चुकाया! मरते हुए पिता जी को कैसे सुबक-सुबककर वचन दिया था—मैं इस लड़के को अपने पुत्र से बढ़कर प्यार करूंगा, आपके चरणों की कसम भाई साहब! वाह रे कसम और वाह रे चाचा! मां तो पहले ही मर चुकी थी। जब पिता जी मरे तब वह आठ बरस का था। पिता अपनी इकलौती संतान के लिए कितने-कितने सपने पाले हुए थे। वाह रे जयराम, तूने खूब उन सपनों को पूरा किया! वह फिर मुस्कराया। पिता जी के मरते ही, चाचा जी को उसकी आंखों में सपनों की जगह कंकड़-पत्थर दिखाई पड़ने लगे, 'पढ़ेंगे सरऊ! डिपटी कमिशनर होंगे!' और थप्पड़ मारकर उसे किसी काम के लिए भेज देते।

पिता जी उसके सपनों के लिए आठ बीघा जमीन और कुछ पैसे छोड़ गये थे जिसे चाचा जी ने अपना लिया और बात-बात में थप्पड़ से पीट कर कहते, 'अनाथ हो गये थे, मैंने न अपनाया होता तो गली-गली भीख मांगते फिरते!' उसे आज भी चाचा-चाची के गरम-गरम थप्पड़ अपनी कनपटियों पर जलते हुए गुड़ की तरह चिपटे हुए मालूम पड़ते हैं। काश, वह अनाथ ही रहा होता तो उसके आठ बीघे खेत तो उसके अपने रहे होते! सनाथ होकर तो वह अपना सब कुछ गंवा बैठा। अभी भी उसके पेट में बचपन की भूख की कड़वाहट खौल रही है। हमदर्द चाचा परिवार और वेदर्द गांववालों की घिन-भरी नजरों और लांछन-भरी फटकार की तेज धार उसके कान के परदे को कर्र-कर्र चीर रही है।

उसका बचपन जाननेवाले जानते हैं कि वह उगते हुए फूल-सा होनहार था, सुन्दर था, स्वस्थ था लेकिन चाचा-चाची के व्यवहार ने उसका सब कुछ छीन लिया। इतनी कठोर घृणा और पीड़ा ने उसे सुन्न

बना दिया। धीरे-धीरे उसके लिए फटकार और लांछन का कोई अर्थ ही नहीं रह गया, वे केवल शब्द रह गये थे। मार का मतलब किसी चीज से टकराना रह गया था।

वह खुद सोचता था, उसे क्या हो गया? कामधाम में उसका मन अब क्यों नहीं लगता? डांट-डपट खाकर भी बावलों की तरह बैठा रहता है। मास्टर साहब हैरान थे कि इसकी सारी अकल कहां चली गयी? पढ़ने-लिखने में मन ही नहीं लगता। मास्टर साहब ने उसे प्यार से समझाया, डांटा भी, मारा भी; लेकिन कुछ असर नहीं हुआ था। और एक दिन मास्टर की बेंत से लहू-लुहान होकर उसने पढ़ाई छोड़ दी।

चाचा परिवार ने खूब गालियां दीं, 'हरामजादा, आवारा! पढ़ाई छोड़ दी, बाप का नाम डुबा दिया! ससुर, अब घूमो कुत्ते की तरह गली-गली!' लेकिन वह जानता है कि यह परिवार खुश ही हुआ होगा। लोक-लाज से स्कूल जाने की छूट जरूर देता रहा लेकिन पढ़ने-लिखने का सारा समय छीनकर उसे घर-दुआर की सेवा में झोंक देता था। दरअसल इस परिवार ने तो यही सोचा होगा, अच्छा हुआ, पढ़ाई छोड़ दी, नहीं तो पढ़-लिखकर दुश्मन ही बनता।

हे, हट्ट-हट्ट···उसने देखा, उसके खेत में किसीका बैल चर रहा है। वह हांकने के लिए दौड़ा। बैल को हांकने के बाद वह मुस्कराया, 'मेरा खेत? वाह रे जयराम! अभी अपने खेत से मोह नहीं छूटा।' उसका पैतृक चार बीघे का चक सामने समुद्र की तरह उमड़ रहा था और उसके बीच खड़ा होकर भी जैसे वह अजनबी था।

वह धीरे-धीरे अपने खेत के विस्तार की ओर सरकने लगा। तरह-तरह की फसलें; सोने का रंग पकड़ते गेहूं, पीले-पीले फूलों से लदे सरसों, नीले-पीले-सफेद-लाल रंगों से दमकती मटर, तितली के समान नीले फूलों-वाली तीसी और एक किनारे पर पीले फूलों और छीमियों से लदी रहर और उसके बाद दूसरे के खेतों में रहर की फसल का एक लम्बा सिलसिला···

कितना अच्छ लगता है यह मौसम। जी चाहता है इस जाते हुए मौसम को बांध लिया जाय। धुत् पगले, किसी ने जाते हुए मौसम को भी

रोका है ?

कितने सुंदर हैं ये मटर के खेत। मोटी-मोटी छीमियां देखकर उसे पेट में कुछ बेचैनी महसूस हुई। उसने कल शाम से ही कुछ खाया नहीं। इच्छा हुई, छीमियां तोड़ ले। उसी के तो खेत हैं। फिर वहीं मेरे-तेरे का चक्कर लगाया, जयराम ! अगर छीमियां तोड़ते हुए चाचा पकड़ ले तो। पकड़ें ससुरे, उनके बाप का नहीं; मेरे बाप का खेत है। उसे अपने पर गुस्सा आया कि वह क्यों अपने खेत छोड़कर भाग खड़ा हुआ। अगर उसके चाचा ने उसके अनजाने ही उसके खेत अपने नाम करा लिये और गांववालों ने भी उसका साथ नहीं दिया तो वह मर तो सकता था। तब नहीं तो आज मरेगा। वह छीमियां तोड़ेगा। देखें तो, चाचा साला क्या करता है ? आज वह जान देगा या जान लेगा।

उसने ढेर सारी छीमियां तोड़ीं, अंगोछे में भर लीं और किनारे खड़ा होकर छील-छीलकर खाने लगा। अपने खेत की छीमियां हैं। अपनेपन का स्वाद ही और होता है।

खाने के बाद प्यास लग आयी। चलो कहीं पानी भी पी लो, जयराम। कहां पियोगे ? उसे याद आया, गांव के बाहर का कुआं। उसके पास कोदई हरिजन का घर है। वहीं पानी पिएगा।

कुएं के पास पहुंचा तो एक हरिजन पानी भर रहा था। उसने पुकारा, 'कोदई।'

'अरे, कौन, जयराम बाबू ? बहुत दिन पर दरसन हुआ।'

'हां-हां, कोदई, अब इस गांव में मेरा क्या रखा है। फिर भी न जाने क्यों चला आता हूं।'

'हां बाबू, ठीक करते हैं। अरे अपनी जनम भूमी है न।'

'हां, है तो।' वह मुस्कराया, 'जरा पानी पिलाओ, प्यास लगी है।'

'पानी मैं पिलाऊं ? अरे बाबू, ई का कहते हैं ? हम अछूत हैं, हमारे हाथ का पानी पियेंगे आप ?'

'अछूत तुम नहीं हो, ये गांववाले हैं। तुम लोग पवित्र हो। पानी पिलाओ, बहुत प्यास लगी है।'

'बाबू, मेरा हियाव नहीं कर रहा है।'

जयराम ने झपटकर अपना लोटा निकाला, कोदई के गगरे में से पानी निकाला और गट-गट पी गया। कुछ हरिजन मरद-औरतें चकित होकर देखते रहे और जयराम ने एक डकार ली और मुस्कराया।

पास के पेड़ की डाल पर कोयल बोली, 'कुहू कुहू···'

'कुहू कुहू' उसने भी शरारती बच्चों की तरह दोहराया।

'तबीयत हरी हो गयी,' और उसने एक राग अलाप दिया :

दिन-रतियां सांझ-सकारे
कोइलिया पुकारे
सबके पियावे ले अमरित बोलिया
विरहिनिया के ताना मारे
कोईलिया पुकारे

'वाह जयराम बाबू, का चऊताल गाया है ! जब से आप गांव से गये, गांवे सूना हो गया।'

'क्यों कोदई, मेरे जाने से गांव क्यों सूना होगा ? मैं तो इस गांव में सबसे आवारा, निकम्मा, लंपट आदमी था। इस गांव में तो एक से एक इज्जतदार लोग हैं। मेरे चाचा नारायण जी हैं, सभापति श्याम बिहारी जी हैं, नेता भगवान जी हैं, पुरोहित लक्ष्मीधर जी हैं, मास्टर राजकिशोर जी हैं। इतने-इतने महारथियों के होते, गांव कैसे सूना हो गया, कोदई !'

'सब लोग तो हैं बाबा, लेकिन आप नहीं हैं। अब का बताया जाय कि ये लोग का हैं; ये सभी नंबरी हैं। दूसरों का छीन-झपटकर अपना घर भरना ही इनका काम रह गया है। आपके साथ जो सलूक इन लोगों ने किया, वह का आदमी का सलूक था ? आपके चाचा ने बेईमानी से आपका खेत ले लिया और आपकी इतनी दुरगति की। ये सभापति, नेता, मास्टर, पुरोहित क्यों नहीं बोले ? ये लोग धरम-करम को लेकर इतना लेकचर झाड़ते हैं लेकिन खुदे केतना अधरम करते हैं, इसे काहे नहीं देखते ! आपने मल्लाह की लड़की से सादी करनी चाही, तो इन लोगों को गांव की इज्जत खतरें में लगी और जब पुरोहित के लड़के को चमारों ने बांधकर मारा और उसके मुंह में अपनी हांडी का जूठा भात डाल दिया तब इनकी इज्जत नहीं गयी ? ससुर आये थे चमरौटी में घाटि करने ! ···जब मास्टर

राजकिशोर की बेटी दूसरे गांव के पासी के साथ भागी जा रही थी इज्जत नहीं गयी ? जब सभापति का लड़का नेता जी की लड़की के साथ पकड़ा गया तब इज्जत नहीं गयी ?'

'बड़े-बड़े पुन्य कार्य हो रहे हैं कोदई, इस गांव में। मुझे कुछ खास मालूम नहीं था। और मालूम होकर भी क्या होगा ? अब तो मेरी दुनिया उजड़ चुकी है।'

'दुनिया आप ही की नहीं उजड़ी है, केतनों की उजड़ गयी है।···हरिजनों की तो जान सांसत में है, बबुआ। पुरोहित के बेटे की पिटाई हुई तो हरिजनों पर आफत आ गई। बड़ी जाति के लोगों को यह देखकर अचरज लगा कि घाटि करने के जुरुम में चमार उन्हें पीट सकते हैं। अब तक तो वे हमारी बहू-बेटियों से खेलवाड़ करना अपना हक समझते रहे हैं लेकिन अब नहीं सहा जाएगा। हमारी टोली के कुछ लड़के भी सहर में पढ़ने लगे हैं, और उन्होंने ही चमरौटी में आग पैदा की है। बड़ी जाति के लोगों ने उन्हें मारा भी, उनके घर चोरियां भी करवायीं और क्या-क्या नहीं किया।'

'कोदई, तुम इतना बढ़-बढ़कर बोल रहे हो, कोई सुन लेगा तो ?'

'कोई सुन लेगा तो क्या हो जाएगा ? बबुआ, अब हरिजन टोली वह नहीं रही। हमें इन बड़े आदमियों की फिकर नहीं है। हमारे पास क्या है जो लेंगे। हमारे पास मेहनत है, उसके लिए ये लोग सौ चक्कर काटते हैं। इन्हें अब मजूरे नहीं मिलते। हम लोगों के बच्चे सहर निकल गये हैं। वहां से कुछ कमा-धमाकर भेजते हैं। इहां तो मजदूरों का अकाल पड़ता जा रहा है एही लिए ये बाबू लोग हम लोगों को गालियां भी देते हैं और चिरौरी भी करते हैं। अब हम लोगों ने भी ठान लिया है कि जिएंगे तो आदमी की तरह जिएंगे नहीं तो मर जाएंगे।'

जयराम ने अनुभव किया कि इन वर्षों में गांव कितना बदल गया है। एक ओर बड़ी जाति वाले पहले से ज्यादा हरामी हो गए हैं, दूसरी ओर छोटी जातियों में जीने की आग पैदा हो गयी है।

'आप आजकल कहां रहते हैं, जयराम बाबू, कुछ अपनी तो बताइए।'

'जोगी हूं, कोदई, मेरा क्या, जब से इस गांव से निकला हूं भटक ही

रहा हूं। कोई एक ठिकाना तो है नहीं, कभी यहां हुआ, कभी वहां हुआ। कभी कोई रूप धरता हूं, कभी कोई रूप। कभी कुछ खाने को मिल जाता है, कभी भूखा ही सो जाता हूं। कभी कोई काम कर लेता हूं, कभी केवल घूमता हूं।'

'अरे हां बबुआ, हमने तो खाने-पीने को पूछा ही नहीं। और पूछूं भी क्या ? मैं आपको खिला भी तो नहीं सकता हूं।'

'नहीं कोदई, सो बात नहीं, मुझे तुम्हारे यहां खाने में क्या एतराज हो सकता है। मेरे लिए तुम नहीं, वे सब अछूत हैं। मैंने खा लिया है।'

'झूठ बोल रहे हैं। कब से तो आप इहां बैठे हुए हैं, खाना कब खा लिया ?···बिटिया।' उसने पुकारा।

'हां बाबू', बेटी ने झांककर जवाब दिया।

'खाना ले आना। एक थाली जयराम बाबू के लिए भी।'

'नहीं, नहीं, मैं नहीं खाऊंगा। खा चुका हूं !'

तब तक उसकी बेटी दो थाली में जौ की मोटी-मोटी रोटियां और मटर की दाल लेकर हाजिर हो गयी।

'नहीं, मैं नहीं खाऊंगा, बेटी !'

'मैं जानता था बाबू, कि संसकार बदलना बहुत मुसकिल है। ले जा बेटी, ई थाली ले जा !'

तब तक जयराम ने देखा, उधर से उसके चाचा आ रहे हैं। जयराम ने झपटकर थाली ले ली और मुस्कराकर खाने लगा। कोदई भी मुस्कराया।

'धुत् साला, थू !' कहकर उसके चाचा आगे बढ़ गए।

'बहुत बढ़िया रोटी पकायी है बेटी ने। वाह-वाह !' जयराम ने जोर से कहा। उसके चाचा ने मुड़कर देखा। जयराम मुस्करा पड़ा। कोदई भी मुस्करा रहा था।

'धुत्, साला चमार हो गया और इस चमार की हिम्मत तो देखो कि अपने घर खिला रहा है ! अच्छा, तुझे भी देखूंगा !' कहकर चाचा आगे बढ़ गया।

'क्या नाम है बिटिया का ?'

'गोमती ! सातवीं में पढ़ती है।'

'वाह्-वाह्, वहुत अच्छा !'

'अरे अच्छा क्या, सारा गांव ताना मारता है कि साले चमार-सियार अब अपनी लड़कियों को पढ़ाकर कलट्टर बनाएंगे।'

'वकने दो सालों को।'

'इसकूल में भी सबसे किनारे बैठायी जाती है। बाबुओं की लड़कियां अपने साथ नहीं बैठातीं और उनके भाई लोग मेरी बेटी का गोड़ धोकर पीने के लिए तैयार हैं। छिप-छिपकर इसारे करते हैं, पइसा दिखाते हैं। लेकिन गोमती बहुत तेज है। एकाध की तो मरम्मत भी कर चुकी है।' फिर उसके चेहरे पर चिन्ता का भाव उग आया, 'लेकिन इन जानवरों के बीच में कब तक वह अपनी लाज बचाएगी। सोचता हूं, अब उसकी सादी कर दूं।'

'अरे, अभी पढ़ने दो। पढ़कर कुछ बन जाएगी।'

'नहीं बाबू, हमारी जाति में तो बहुत छोटपन में ही सादी हो जाती है। उस लेहाज से तो गोमती बहुत बड़ी हो गयी है। कुछ बनना हम लोगों की तकदीर में कहां है ?'

'अच्छा, मैं चलूं कोदई।'

'कहां ?'

'बस, रमता जोगी बहता पानी···इनसे 'कहां' नहीं पूछा जाता।'

उसने लोटे में पानी भर लिया और चल पड़ा वनखंडी की ओर।

···कितनी प्यारी लड़की है गोमती, कितनी सुन्दर, कितनी साफ, कितनी सुशील; पढ़ने में तेज। आखिर इसका पाप इतना ही है न कि हरिजन कुल में पैदा हुई है। छोटी जाति में पैदा होने का पाप फुलवा ने भी तो किया था। उफ, यह एक पाप क्या-क्या सजा नहीं देता। हे प्रभो, यह सजा गोमती को मत देना। गोमती पगली, तू भी कहीं किसी मुझ जैसे पागल को दिल न दे बैठना।

अंगिया दरक मोरी जाय
बलम तोसे होरी न खेलबो···

कोई राहगीर गाता हुआ निकल गया।

वाह भाई, वाह, क्या फाग गाया है। वह धीरे-धीरे यही कड़ी गुनगुनाने लगा। और धीरे-धीरे उसकी गुनगुनाहट में एक दर्द उभरने लगा। स्मृति की एक घाटी खुलने लगी···

एक दिन उसने फुलवा से कहा था, 'इस साल मैं तुझसे होली खेलूंगा।'

'धत्त' कहकर वह लजा गयी थी।

दूसरे दिन जब वह उसका खेत काट रही थी, तो जयराम ने मजूरनों को ललकारा, 'अरे, फागुन के महीने में तुम लोग क्या मरे मन से खेत काट रही हो ! कुछ गाओ, बड़े भाग्य से यह महीना आता है।'

'गा रे, गा रे, तू गा रे···' सब एक-दूसरी को कोंचने लगी थीं कि फुलवा ने यही गीत शुरू किया :

अंगिया दरक मोरी जाय
बलम तोसे होरी न खेलबो···

इतना मीठा स्वर है इसका, उसे मालूम न था। फुलवा ने गाते-गाते कनखियों से उसकी ओर देखा और शरारत से मुस्करा उठी। वह भीतर तक दहक उठा।

फुलवा और उसकी साथिनें गाती रहीं और वह न जाने कहां खो गया था। जब गीत बंद हुआ तो जैसे सोते से जागा, 'वाह-वाह फुलवा, क्या गला पाया है !'

फुलवा शरमा गयी। क्या दृश्य था वह ! फागुनी हवा सब कुछ उड़ाती भागी जा रही थी। कोई कहां तक आंचल संभाले, कोई कहां तक मन संभाले। ···मगर होली के दिन वह फुलवा से होली नहीं खेल सका। रिवाज तो मरदों का मरदों से और औरतों का औरतों से होली खेलने का है। वह किस बहाने उससे होली खेलता। वह लोटे में रंग लेकर लड़कियों के साथ उसके दरवाजे पर से गुजरी तो दोनों की नजरें मिलीं। फुलवा ने सबसे छिपकर उसे अंगूठा दिखा दिया कि लो, खेल ली न मुझसे होली !···

वह लोटे में पानी लेकर फिर वनखंडी में पहुंच गया और अपना बाजा निकालकर छेड़ा, 'किर-किकी, किर-किकी', हवा लोटती रही,

उसकी सारंगी का स्वर लोटता रहा। एक अजीब मोहक उदासी वातावरण में फैली हुई थी।

एकाएक उसके पेट में दर्द हुआ और वह लोटा लेकर अरहर के खेत की ओर चल पड़ा। वह एक सघन खेत के काफी बीच में पहुंच गया था। एकाएक दो व्यक्ति खेत में से उठकर भड़भड़ाकर भागे। जयराम ने देखा एक लड़का, एक लड़की। उसने पहचान लिया, लड़के महोदय और कोई नहीं, उसके चचेरे भाई हैं; चाचा जी की शान और इज्जत और लड़की भी किसी इज्जतदार महोदय की लड़की लग रही है। गांव के दोनों इज्जतदारों की इज्जत अरहर के खेत में पनप रही है।

क्या दुनिया है, कैसा झूठ है, चारों ओर राज्य करता हुआ। सत्य मार खाने के लिए ही बना है क्या? इन दोनों इज्जतदारों ने उसे मारा था, वे ही उसके देश-निकाले और फुलवा की मौत के जिम्मेदार हैं। अब ये साले अपने-अपने घरों में चलने वाले घिनौने व्यापारों को नहीं देखते? इन्हें कोई कहे भी तो 'झूठ' कहकर टाल देंगे और कहने वाले को ही दोषी ठहरा देंगे। सब कुछ ठीक है; भाई-बहन का व्यभिचार भी ठीक है, यदि वह अंधेरे में चलता रहे।

थुड़ी है इन इज्जतदारों पर। इच्छा तो हो रही है कि अभी चलकर गांव में शोर करे और इन इज्जतदारों का भंडाफोड़ करे लेकिन कौन पतियाएगा? और क्यों करे? उसे क्या लेना-देना है इस गांव से? उसका तो सब कुछ लुट ही गया। अब क्या है जिसका मोह पालकर यह सब कुछ करे?

वह आकर पलाश की छांह में लेट गया। फुलवा का पलाश के फूल-सा प्यारा-प्यारा रूप उसकी आंखों में भर उठा। उसे देर तक संभाले रहा फिर धीरे-धीरे अतीत की घाटियों में भटकने लगा···

पढ़ाई-लिखाई से छुट्टी पाकर वह निर्द्वन्द्व हो गया था। वह घर से बाहर निकल जाता तो या तो अहीरों के लड़कों के साथ मिलकर गुल्ली-डंडा खेलता या किसी पेड़ की एकांत छाया में सोया रहता। शाम को जब घर पहुंचता तो उसे मार और उपवास का पुरस्कार मिलता। किन्तु वह इसका आदी हो गया था। चाचा परिवार उससे आजिज आ गया था।

मगर बहुत झल्लाने के बावजूद उसे झेलना ही पड़ता। छः बीघे खेत कम तो नहीं होते।

उसकी शोहरत गांव से बाहर जाकर रिश्तेदारों में भी फैल गयी। कौन कसाई बाप होगा जो ऐसे आवारा के हाथों अपनी बेटी सौंपेगा। चाचा परिवार भीतर ही भीतर खुश था उसकी शादी न होने से। उसकी शादी से अधिक उसके आठ बीघे खेतों का मूल्य उनके लिए ज्यादा था।

बीस-इक्कीस वर्ष का होने के बावजूद उसकी शादी नहीं हुई। वह निरंतर एकांतप्रेमी होता गया और गुमसुम रहने लगा। परिवार की उपेक्षा, गांव की उपेक्षा—सबकी उपेक्षा ही उपेक्षा। तनहाई काटने के लिए उसने अपने में डूबना शुरू किया। अपने में डूबकर धीरे-धीरे कलाकार होने लगा। एक दिन भीख मांगने वाले एक लड़के के पास कुकुही देखी। उसका स्वर उसे बहुत दर्दीला लगा, अपने स्वर जैसा ही। उसने उसे बनाने का तरीका पूछा। कई बार बनाने की कोशिश की, और एक बार सफल हो गया। अब वह अक्सर कुकुही पर हाथ फेरता, और एक दिन ऐसा आया कि बिना किसी गुरु के ही वह उस छोटी-सी सारंगी में से दर्द की लहरें पैदा करने लगा। जब कभी उसका मन कुकुही से ऊबता, तो चाकू से बांस काट-काटकर उसे नयी-नयी छड़ी का आकार देता—कभी टेढ़ी, कभी सीधी, कभी बकुलीदार, कभी मुठियादार। इससे भी मन ऊबता तो कभी-कभी सुई से कपड़े के टुकड़ों को जोड़-जोड़कर वास्केट, जैकेट और टोपी सीता। उसने उन दिनों अपने लिए एक कुबरी-नुमा छड़ी, एक वास्केट और बांस के पत्तों और कपड़ों को मिलाकर एक हैट बना लिया था। इस पोशाक में वह पूरा जोकर लगता था। वह कभी-कभी गांव के बाहर वाले टीले पर बैठकर सामने फैले हुए वनखंडी के अगाध वीराने में कुकुही पर दर्दीला राग छेड़ देता जैसे किसी को पुकार रहा हो। कुकुही का स्वर भटक-भटककर व्यर्थ लौट आता। तब वह उदासी की सांस खींचकर कहीं चल देता।

ऐसे ही वह उस दिन भटक रहा था। फागुनी हवा वनखंडी के पलाशों को लहका रही थी। एक लड़की वनखंडी में लकड़ी चुनने आयी

थी। उसकी छवि देखकर वह लड़की मुंह में आंचल ठूंसकर हंस रही थी। उसकी निगाह उधर पड़ी तो वह लड़की सहम गयी। उसकी हंसी बंद हो गयी थी किन्तु लगता था कि उसके दबाव को तोड़कर उसकी हंसी अब फूट पड़ेगी, तब फूट पड़ेगी। वह ठहर गया। कौन है यह लड़की ? इसे कभी देखा नहीं। बाल खुले हुए, सत्रह-अठारह साल की गोरी-स्वस्थ लड़की। सुन्दर चेहरा धूप में तमतमाकर पलाश का फूल बन रहा है। उसे देखकर हंसती क्यों है ?

'कौन हो तुम ? कहां रहती हो ?' उसने पूछा।

उस लड़की ने मुस्कराते हुए उसके गांव की ओर इशारा किया।

'यहां ? मेरे गांव में ? मगर तुम्हें कभी देखा नहीं।'

'मैं महीने-भर से आयी हूं। मेहमान हूं।'

'किसके यहां ?'

'गोकुल माझी के यहां।'

'क्या लगती हो उसकी ?

'साली।'

'तो तुम एक महीने से आयी हुई हो ? दिखाई नहीं पड़ी ?'

वह लड़की उसकी जोकरी छवि पर ठठाकर हंसती हुई बोली, 'दिखाई पड़ना जरूरी है क्या ? और आप तो अपनी ही दुनिया में खोये रहते हैं, दूसरों को जानने की फुरसत ही कहां है ? लेकिन मैं जब से आयी हूं तभी से आपको जानती हूं। और मुझे मालूम है…' वह वाक्य पूरा किए बिना ठि--ठि-ठि करके हंसने लगी।

वह कुछ गंभीर हो गया। बोला, 'तो तुम मेरे बारे में सब कुछ जानती हो ? चलो, अच्छा ही हुआ। तुम्हीं क्या, सभी समझते हैं कि मैं अपनी दुनिया में खोया रहता हूं। लेकिन कोई यह नहीं सोचता कि मेरी कोई दुनिया है भी कि नहीं। अपनेपन की भूख बहुत भयानक होती है लड़की ! इस कुकुही की टेर में उसी भूख को भूलता फिरता हूं। मुझे सभी भोंदू, बेवकूफ और पागल समझते हैं; बस, आदमी ही नहीं समझते। सब हंसते हैं। हंसो, तुम भी हंसो ! मैं किसी की हंसी की परवाह नहीं करता हूं !'

लड़की की हंसती हुई आंखें धीरे-धीरे नम हो आयीं। उसे जैसे उसके दर्द में अपना ही दर्द भीगता हुआ जान पड़ा। एक पलाश का फूल हवा में नाचता हुआ उस लड़की के सिर को छूता हुआ उसकी छाती से जा टकराया।

'अच्छा जाओ लड़की, कोई किसी को दुखी क्यों करे?' कहकर वह आगे बढ़ गया। दो कदम जाकर रुक गया और मुड़कर पूछा, 'क्या नाम है तुम्हारा?'

'फुलवा!'

'अभी दो-चार दिन रहोगी?'

'अब यहीं रहूंगी।'

उसने अपनी कुकुही को छेड़ दिया, कुकुही झनझना उठी। फुलवा देखती रही और देखती रही। पलाश के फूल धूप में कुछ और चटक गये थे।

उसे ऐसा लगा कि उसके सूनेपन में कोई आग लगा गया है। उस दिन के बाद उसके भीतर एक अजीब उत्साह भर गया था। वह फुलवा को देखना चाहता था, मिलना चाहता था लेकिन न जाने क्यों, एक अज्ञात संकोच उसे घेर लेता था। वह सोचता, न जाने क्यों फुलवा फिर इस वनखंडी में लकड़ी बीनने नहीं आयी। क्या उससे डर गयी या उसकी किसी बात का बुरा मान गयी?

वह वनखंडी में बैठकर कुकुही बजाता और लगता कि उसके हर स्वर में फुलवा का नाम ही झनझना रहा है। वह अब अधिक प्रसन्न दीखने लगा था, लोगों से हंस-हंसकर बातें भी कर लेता था। लोगों के मजाक का उत्तर मजाक में देता था। जोकरी रूप भी छोड़ दिया था। वह फुलवा से मिलना चाहता था। वह कभी-कभी दिखाई तो पड़ जाती थी लेकिन बोले बिना चली जाती थी।

मंजरियों से लदी अमराई के एकांत में एक शाम फुलवा उसे मिल गयी। उसने हिम्मत के साथ उसे रोक लिया :

'बुरा मान गयी फुलवा?'

'ना-ना, बुरा क्यों मानूंगी?' कहकर वह लजा गयी। उसके गाल

पलाश के फूल बन गए। वह दूसरी ओर मुंह करके दाहिने पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदने लगी।

'फुलवा, पता नहीं मुझे क्यों लगता है कि तूने मेरे जनम-जनम के अंधकार में एक किरन फेंक दी है। तेरा एहसान कभी नहीं भूलूंगा।'

फुलवा की लज्जा और गाढ़ी हो गयी, उसने आंखें धरती में गड़ाये-गड़ाये ही कहा, 'ना-ना जय बाबू, इसमें एहसान की बात क्या है? हां, मन में यह तड़प जरूर उठती है कि मैं आपके किसी काम आ सकती!'

'तुम्हें ऐसा क्यों लगता है फुलवा? सारी दुनिया तो मुझ पर थूकती है, गालियां देती है।'

'यह तो मुझे नहीं मालूम जय बाबू, लेकिन जिस दिन आपसे भेंट हुई, उसी दिन से न जाने मुझे क्या हो गया। उसी दिन से लगता है कि मेरे भीतर जमी हुई कोई सतह टूट गयी और एक धारा नीचे से ऊपर आना चाहती है।'

'यही बात तो मेरे साथ भी हुई फुलवा। न जाने वह कौन तार है, जो एकाएक हम दोनों के बीच जुड़ गया।'

'वह तार दरद का है जय बाबू! जो दरद आपका है, वही मेरा है। आपको देखते ही मुझे लगा कि मैं अकेली नहीं हूं, कोई मेरे जैसा भी है।'

दोनों चुप हो गए।

'आप नहीं जानते जय बाबू, मेरे दरद को। लेकिन आपका दरद उसे जानता है। मैं जनम की दुखियारी हूं, जय बाबू। पैदा होते ही मैंने एक के बाद एक भाई और बपई को खा लिया और सादी के बाद मरद को खा गयी। कोई बच्चा भी तो नहीं हुआ जिसके सहारे जिनगी काटती। हाय, बच्चे मुझे बहुत प्यारे लगते हैं!'

'तू खा गयी पगली? अपने को इस कदर पापी बनाने से क्या फायदा?'

'मैं नहीं बना रही हूं, दुनिया बना रही है। दुनिया की गाली खाते-खाते मैं खुद भी यही मानने लगी कि मैं डायन हूं, जहां जाती हूं किसी को खा जाती हूं। वैसे मेरा मरद मुझे बहुत मानता था। लेकिन उसके मरने के बाद मेरी जो दुरदसा हुई उसे मत पूछिए जय बाबू मैंने अपनी बहन को आंसू से भीजा हुआ सनेस भेजा कि बुला लो, नहीं तो मैं डूब

मरूंगी।—उसने सनेस भेजा—चली आओ, वहां नरक में क्यों पड़ी हो ?—मैं रात के अंधेरे में भाग खड़ी हुई। यहां आयी तो बहन ने दूसरी सादी के लिए कई बार कहा लेकिन मुझे अब तो आदमी से डर लगने लगा है। लेकिन न जाने आप में क्या देखा उस दिन जिसे दुनिया नहीं देख पाती।'

'बस-बस फुलवा, इतना बहुत है। इतने विश्वास पर तो मैं पूरा जीवन हंसते-गाते काट दूंगा। बस, मुझे इतना लगा करे कि मैं किसी के लिए जी रहा हूं, किसी के लिए मर रहा हूं।'

'इतना बड़ा बिसवास दिला सकूं मुझमें ऐसा कौन-सा गुन है जय बाबू? मैं छोटी जाति की, अभागिनी, दूसरे के आसरे पर पलने वाली अनाथ लड़की इतनी बड़ी जिम्मेदारी का निबाह क्या कर पाऊंगी, जय बाबू? डर लगता है।'

'अरी लड़की, मैं किसी से डरता थोड़े न हूं। दुनिया का धरम-करम बहुत देख लिया। बड़ी जाति असल में कितनी सच्ची और पवित्र है यह मुझसे अधिक कौन जान सकता है, फुलवा। मैं उसे ठोकर मार दूंगा तुम्हारे लिए, फुलवा। बस, जरा-सा अपना विश्वास पकड़ा दे।' कहते-कहते वह हांफने लगा।

उसकी आंखों में एक उल्लास चमक आया। फुलवा न जाने क्या गुमसुम सोच रही थी।

'एक बात कहूं बाबू, मानोगे ?'

'कहकर देख ले फुलवा।'

'तुम कुछ घर-गृहस्थी का काम संभालो। तुम्हें कोई आवारा कहता है तो मुझे बरदास्त नहीं होता।'

'अरे गोली मार, साली दुनिया को, फुलवा। बड़ी आयी वह आवारा कहने वाली…'

वह मस्ती में झूमता हुआ चला गया।

किन्तु दूसरे दिन जब सुबह वह अपनी खाद के घूरे को उठा-उठाकर खेत में फेंकता हुआ दिखायी पड़ा तो लोगों के विस्मय का ठिकाना न रहा।

'अरे, यह जयराम है ?'

'हां, हां, यह जयराम ही है।' चाचा ने मुंह बिचकाकर कहा, 'पागलपन और गहरा रहा है।'

चाची ने हाथ मटकाकर कहा, 'अरे, नहीं जानते, जब बैठकर हूरते-हूरते कुछ शरम आयी है तो लोगों को दिखाने के लिए काम का नाटक करने चला है दहिजरा ! मैं इसकी नस-नस पहचानती हूं। मौत भी नहीं आती अभागे को !'

उसने सुना तो तिलमिलाकर रह गया। उसकी इच्छा हुई कि कुदाल-खांची फेंक-फांककर कहीं चल दे। किन्तु फुलवा ने कहा है···

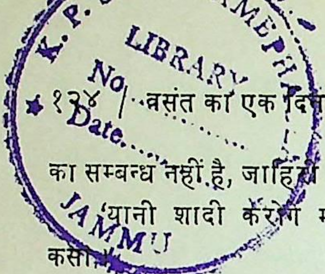
वह रोज-रोज चाचा परिवार और गांववालों की जहरीली टिप्पणियों को पीकर भी काम करता रहा। दुनिया ने उसकी कुकुही और कुदाली में अन्तर नहीं समझा तो न समझे, फुलवा के संतोष के लिए वह सब कुछ कर सकता है।

और एक दिन यह बात उजागर हो गयी कि फुलवा और उसमें आसनाई चल रही है। दरअसल फुलवा के बहनोई गोकुल ने ही यह प्रचार किया था। वह खुद ही फुलवा पर लार टपका रहा था और उसे दूसरी बीवी बनाकर रखना चाहता था लेकिन फुलवा ने ही दृढ़ता से कह दिया कि वह जयराम बाबू से प्रेम करती है, उन्हीं के साथ जिनगी बिताएगी।

कौन किसकी आसनाई पकड़े हुए है, सभी करते हैं मौका मिलने पर लेकिन छिपकर। मगर इस मुंहझौंसे को तो देखो, खुलेआम मल्लाह की लड़की से परेम फरमा रहा है। सब लोग इसे बौड़म समझते रहे लेकिन यह तो जहरीला सांप निकला !

उसकी जाति वालों ने उसे बहुत कोसा, 'अरे लम्पट, सरङी-कुकुही लेकर जोगी तो पहले ही हो गया था अब मल्लाह भी हो गया ! तुझे मल्लाह की विधवा लड़की ही मिली है आशनाई करने के लिए ? तू पैदा होते ही मर क्यों नहीं गया ! साला गांव की नाक कटा रहा है।'

उसका इतने दिनों का जमा हुआ क्रोध यों उमड़ आया कि गांव के बुद्धिमान लोगों को ठकमुर्री मार गयी। उसने बड़े दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, 'आप लोग मेरे साथ अनाप-सनाप मत बकिए। मैं गांव की नाक रखने वाले हर आदमी को जानता हूं। फुलवा से मेरा सम्बन्ध लुके-छिपे



का सम्बन्ध नहीं है, जाहिरा तौर का है। मैं उसे प्रेम करता हूं।'

'यानी शादी करोगे मल्लाह की लड़की से ?' एक व्यक्ति ने व्यंग्य कसा।

'हां, हां, चाहो तो यही कह लो।' बड़े निर्भीक शब्दों में उसने कहा।

आगे बढ़कर चाचा ने एक जोर का थप्पड़ उसके गाल पर जड़ दिया। चाचा से थप्पड़ खाना उसके लिए नयी बात नहीं थी मगर इस थप्पड़ ने उसके मन की सारी संवेदनाओं को आहत कर दिया। उसने घूमकर आंखों में आग भरकर चाचा को देखा। चाचा सहम गए। किन्तु फिर अपने आहत अभिमान को सम्हालकर आगे बढ़े और चांटा मारने ही वाले थे कि जयराम डपटा, 'खबरदार! बांह तोड़कर रख दूंगा। अब मैं वह पत्थर नहीं हूं जो चुपचाप आपकी लात-गारी सहता आया है। अब मुझे भी दर्द होने लगा है। पहले खुद आप छिप-छिपकर चमरौटी में जाना छोड़िए, तब मुझे सीख दीजिएगा।'

लोग अवाक् थे। किसी ने पीछे से आवाज कसी, 'हां, हां, मल्लाहिन ने जगा दिया है गबदा को।' लोग हंसने लगे। किन्तु उसकी आंखें वैसी ही आग-सी उगलती रहीं। चाचा ने हांफते हुए कहा, 'पापी, मल्लाहिन रखने वाला विधर्मी, निकल जा मेरे घर से! अब तक इस आवारे साले का नाव जैसा पेट भरते-भरते हड्डी टूट गयी। उसी का बदला चुका रहा है, मुझे बेभिचारी कह रहा है।'

उसकी आवाज तड़पी, 'मैं किसी का एहसान नहीं चाहता चाचा जी, बचपन से ही पीट-पीटकर आपने मुझे जड़ बना दिया। घृणा और मार के अलावा आपने इस अनाथ बालक को क्या दिया? ऐसे पापी घर में रहना नरक में रहना है। मैं इसीलिए दिन-दिन-भर बाहर भागता फिरा। मुझे आपके घर में रहने की इच्छा खुद ही नहीं है। आप मेरे आठ बीघे खेत अलग कर दीजिए; आप अपने रास्ते मैं अपने रास्ते।'

'कैसे तेरे खेत ? वे तो तेरे पेट में चले गए। जा भाग जा, पापी, आज से अपनी सूरत मत दिखाना।'

'क्या कहा, मेरे खेत आपके पास नहीं ? आठ बीघे मेरे खेत क्या हो गए ?'

उसने वहां खड़े सभापति जी, नेता जी, पुरोहित जी, सबसे फरियाद की किन्तु सबने कहा, 'भाई, यह तुम्हारे घर का मामला है; हम क्या कर सकते हैं। और तुम्हारे जैसे बेधरमी के लिए तो गांव में वैसे भी जगह नहीं होनी चाहिए।'

चाचा जी बिना कुछ बोले वहां से चले गए। चाचा जी की गुण्डई के डर से और कुछ उसके प्रति घृणा की वजह से गांव वाले भी कुछ नहीं बोले, सभी यहां-वहां सरक गए।

वह बहुत दिनों बाद जागा जब सारा खेल खत्म हो गया था। चाचा ने पटवारी से मिल-जुलकर सारे खेत अपने नाम करा लिये थे। उसे इच्छा हुई कि वह मुकदमा लड़े। किन्तु चाचा के खिलाफ गवाही कौन देगा? कोई भी तैयार नहीं हुआ। और अब तो समस्या थी रोटी की। मुकदमे के लिए पैसे कहां से आएंगे? सोचते-सोचते वह टूट गया। संसार के प्रति एक अद्भुत तिक्तता की अनुभूति से भर गया। इन सारी तिक्तताओं के बीच शहद की बूंद-सी फुलवा···

सोचा कि फुलवा से मिल-जुलकर आगे का कार्यक्रम सोचे। उसकी इच्छा हुई कि भाग चले इस गांव से दूर। कहीं चलकर मेहनत-मजदूरी करे और फुलवा के साथ आदमी की जिन्दगी जिए।

लेकिन उस दिन फुलवा नहीं मिली। वह घर के एक कोने में दुबकी हुई सिसक रही थी। उसके कारण बहनोई ने उसकी बहन को पीटा था। उसका बहनोई बहुत दिनों से फुलवा के गदराए यौवन पर दृष्टि धंसाए था। मगर वह उसके पंजे में कभी नहीं आयी। और जब उसने जयराम के साथ उसकी आशनाई का समाचार सुना तो एक अद्भुत हिंसक क्रोध से भर गया। 'भला देखो तो, हरजाई रहती है मेरे घर में, खाती है मेरा, पहनती है मेरा और आशनाई करने चली उस गबदा से! आज उसने जाति में मेरी बदनामी करायी है, आए तो उसे पीटकर रख दूंगा।' उसकी औरत ने विरोध किया, 'बड़े आए हो मारने वाले! मार ही खानी थी तो अपनी ससुराल में क्या बुरी थी? उस पर कोई अहसान नहीं करते। दिन-भर हाड़ तोड़कर काम करती है तो दो रोटी खाने को देते हो। कौन होते हो उस पर हाथ उठाने वाले!'

औरत की गरम-गरम बातें सुनकर गोकुल मल्लाह ने उसी पर सारा गुस्सा उतार दिया। बोला, 'तो पोस घर में हरजाई को! जैसी तू वैसी वह।'

फुलवा काम-धाम करके घर आयी तो सारी कथा सुनी। बहन ने भी उसे जयराम से सम्बन्ध जोड़ने के लिए भला-बुरा कहा। फुलवा बैठी रो रही थी। अतः उस दिन वह उससे नहीं मिल सका।

दूसरे दिन शाम को वनखंडी में बैठकर जयराम ने फिर कुकुही पकड़ ली और उसे झनझनाने लगा :

फु···ल···वा···रे···ए···ए···

फुलवा कल से ही उससे मिलने को तड़प रही थी। उसने विश्वास दिया है उसको। फुलवा धीरे-धीरे जाकर एक पेड़ की छांह में खड़ी हो गयी। वह तल्लीन होकर कुकुही बजा रहा था।

'जय बाबू।'

'तुम आ गयीं फुलवा?'

फुलवा कुछ नहीं बोली, झर-झर रोती रही।

'फुलवा, रोती क्यों है पगली। चल, इस गांव से निकल चलें कहीं दूर जहां कोई हम लोगों की जाति-पांति न समझे। हम लोग वहां मेहनत-मजदूरी करके खाएं और आदमी की तरह जिएं। बड़ा जालिम है यह गांव, प्यारी।'

फुलवा आंसू ढरकाती रही, कुछ नहीं बोली।

'बोल-बोल, फुलवा, कुछ तो बोल। मैं तो एकदम टूट गया हूं, तू ही बस सहारा है। मेरी मौत और जिन्दगी का फैसला तेरे ही हाथ में है। तू भी चुप रहेगी तब क्या होगा?' उसकी आंखें भर आयीं।

'मैं क्या बोलूं जयराम बाबू? कभी-कभी सोचती हूं कि मैं कितनी अभागी हूं। लोग कहते हैं कि मैंने बचपन में ही अपने मां-बाप को खा डाला फिर अपने पति को खा डाला फिर अब तुम्हारी जिन्दगी में कूद-कर तुम्हें भी बरबाद करने पर तुली हूं। तुम्हारा धरम बिगाड़ा। लोग मुझे क्या कहेंगे, क्या कहेंगे? भगवान् क्या सजा देगा? किन्तु क्या करूं बाबू, मन ऐसा पापी है जो दुनिया में किसी के पास ठहरता ही नहीं;

सभी जगह उसे पाप की तेज गंध आती है; घूम-फिरकर तुम्हारे पास ही लौट आता है।' वह सुबकने लगी।

'फुलवा, हम लोगों का अभाग्य ही हमारे प्रेम का सबसे बड़ा आधार है। यह पाप-पुण्य का लटका छोड़। मैंने वेद शास्त्र नहीं पढ़े हैं लेकिन जिन्दगी जीते-जीते इतना सीख गया हूं कि प्रेम बिना आदमी आदमी नहीं रह जाता। जिन्दगी टूट जाती है। और वह प्रेम जो आदमी को बल दे, टूटने से उबारे वह पवित्र होता है, फुलवा। चाहे वह कहीं से मिले। बोल, मेरे साथ चलेगी ?'

'कहां ?'

'नरक में, स्वर्ग में, आकाश में, पाताल में; कहीं भी, इस गांव से दूर। अब मैं बाभन नहीं हूं फुलवा, सिर्फ आदमी हूं। मजदूरी करके खाऊंगा और तुझे खिलाऊंगा। फेंक दूंगा यह कुकुही तोड़-ताड़कर। बोल चलेगी ?'

'चलूंगी।'

उसने उठकर फुलवा को जकड़ने के लिए बांहें फैलायीं कि अचानक पीछे से कुछ बांहों ने उन्हें पकड़कर मरोड़ दिया। वह एक आह भरकर रह गया। इसके बाद उस पर लात-मुक्कों की जो बौछार होने लगी उसे देखकर फुलवा एक बार जोर से चीख उठी। लेकिन एक आदमी ने लपककर उसका मुंह अपनी हथेली से जकड़ दिया। वह अफनाने लगी। उसकी हालत देखकर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। जब वह मार खाते-खाते बेहोश हो गया तो मारने वाले फुलवा को उठाकर और उसको छोड़कर चले गए। फुलवा को ले जाकर चुपके से एक मकान में बंद कर दिया गया।

मूर्च्छा टूटने पर वह सब कुछ समझ गया। उसने पुकारा, 'फुलवा ! फुलवा !!' किन्तु रात के सन्नाटे में उसे अपनी आवाज के अतिरिक्त और कोई आवाज नहीं सुनाई पड़ी।

सुबह वह लंगड़ाता हुआ गांव की ओर गया तो शोर था कि फुलवा भाग गयी, भाग गयी कहीं; पास-पड़ोस के गांव के एक मल्लाह के साथ।

वह तड़पा, चीखा, 'झूठ ! तुम सभी लोग झूठे हो। फुलवा नहीं भाग सकती। तुम लोगों ने उसकी हत्या कर दी है, उसे खा लिया है। उसे

खोजूंगा मैं, अकाश में, पाताल में···'

जब दो दिन तक फुलवा की कोई खबर नहीं मिली तो वह धीरे-धीरे गांव से बाहर हो गया। रास्ते में उसके खेत पड़े, उन्हें जी भरकर देखा, फफककर रोया फिर आगे बढ़ गया। वनखंडी की वे जगहें रो रही थीं जहां उसकी फुलवा से पहली और आखिरी मुलाकात हुई थी।

उसने बाद में सुना कि उसके जाने के बाद फुलवा की सगाई दूर के एक गांव में किसी मल्लाह के साथ कर दी गयी। फुलवा बहुत चीखी-चिल्लायी फिर शांत हो गयी। उसका पति कलकत्ते में काम करता था। वहीं ले गया फुलवा को। मगर पता नहीं फुलवा को क्या हो गया कि साल के भीतर ही चल बसी।

सब कुछ समाप्त हो गया जैसे सामने से एक हरा-भरा खेत एकाएक उड़ गया हो···

उसने आंखें खोलीं। लगा वे भीग गयी हैं।

अब वह साल-भर पता नहीं कहां रहता है। जब पलाश फूलते हैं तो दिन-भर के लिए उस वनखंडी में लौट आता है। कुकुही बजाता है। पास आए हुए बच्चों को देखकर प्रसन्न होता है। फुलवा ने कहा था कि उसे बच्चे बहुत प्यारे लगते हैं। फुलवा और बच्चे···

किन्तु आज न जाने क्यों, शाम हो जाने पर भी जयराम वनखंडी से नहीं उठा। उसे लगता था कि वह अपनी मातृभूमि से कटकर भटकते-भटकते थक गया है। आज उसकी जमीन उसे हजार-हजार स्वरों से अपने पास बुला रही है। आज उसे न जाने कैसा-कैसा लग रहा था जैसे भटकती हुई यात्रा का अन्त आ गया हो। उसे लगता था कि फुलवा और कहीं नहीं यहीं कहीं समाधि में लीन है। मार डाला इन जालिमों ने उसे यहीं पर। उसे गांव के बाहर खोजना व्यर्थ है। सोचते-सोचते रात हो आयी। भूखा-प्यासा जयराम उठकर अपने बिछड़े हुए खेत के पास टहलने लगा। सहसा गांव की ओर से भयानक शोर सुनाई पड़ा। उधर का आकाश पश्चिमी संध्याकाश-सा लाल हो उठा। गांव की ओर से लाल-लाल लपटें उठने लगीं। उसे लगा, जैसे सारे आकाश में दहकते हुए पलाश

के फूल हों। आग लगी है, पवित्र लोगों की बस्ती में आग लगी है। मगर उसे क्या ? एक बार इच्छा हुई कि उधर चले फिर मन ने टोका, नहीं, जीते-जी इस बस्ती में न जाने का उसने फैसला लिया है।

ऊंची-ऊंची लपटें उठने लगीं। सारा गांव जलते हुए घर के पास खड़ा होकर हो-हल्ला कर रहा था। पछुवा के वेग के साथ लपटें पूरे गांव को निगल जाने की चुनौती दे रही थीं। सभी लोग आग बुझाने के उपक्रम में दौड़-धूप कर रहे थे। सहसा गृहवधू चिल्लायी, 'हाय दैया ! मैं लुट गयी, मेरा मुन्ना तो घर में ही रह गया !' उपस्थित लोगों में एक अजीब हाहाकार मच गया। घर के लोग चीखने-चिल्लाने लगे। आग में कूदती हुई बहू को लोगों ने पकड़ लिया मगर आग में कूदकर बच्चे को ले कौन आए ? मौत की जीभ की तरह कांपती इन लपटों को पार कौन करे ? आग की लपटें बच्चे की ओर चिटचिटाती बढ़ रही थीं।

किसी ने नहीं देखा कब पेड़ की आड़ से निकलकर एक पागल आग की लपटों को चीरता अन्दर घुसा और बच्चे को उसकी गुदड़ी में लपेटकर गिरती कड़ियों से उसे बचाता आग के बाहर आ गया। मां ने झपटकर बच्चे को गोद में ले लिया, किन्तु वह पागल बुरी तरह जली अवस्था में जमीन पर गिर पड़ा। लोगों ने उसके जलते कपड़ों को तेजी से बुझाया।

लोगों ने पहचाना—यह तो जयराम है। कुछ लोग उसे घेरकर खड़े हो गए। कुछ लोग आग बुझाते रहे। काफी देर में जब आग की लपटें शान्त होने लगीं तो लोगों ने देखा कि जयराम भी सदा के लिए शान्त हो गया था।

कोई चीखा नहीं, चिल्लाया नहीं सिर्फ गांव का एक निकम्मा आदमी ही तो उठ गया था।

अकेला मकान

मुझे बहुत धक्का लगा जब देखा कि सोहन भइया मेरे गांव में आकर भी अब मेरे यहां नहीं आते और कुछ दूसरे लोगों के दरवाजों पर बैठने लगे हैं। मुझे विश्वास था कि वे खेत मुझे ही देंगे। कोई मुफ्त तो देंगे नहीं, पैसे लेकर देंगे। लेकिन जब वे मेरे यहां न आकर औरों के यहां जाने लगे तो मेरा माथा ठनका। ये तो मुझसे कतरा रहे हैं। आखिर इनकी मंशा क्या है ? ये मेरे सगे फुफेरे भाई हैं। उनके एक खेत की तो मुझे सख्त जरूरत है। यह मेरे छोटे-से खेत के पास पड़ता है और मुझे अपने खेत में मकान बनाना है। उनका खेत खरीदने पर सहन भी बन जाएगा और मकान के सामने खेत भी हो जाएगा। सबसे बड़ी चिंता इस बात की है कि यदि मैंने अपने छोटे-से खेत में मकान बनाया (और बनाना है ही क्योंकि गांव के बीच का मकान बड़े परिवार के लिए छोटा पड़ने लगा है) तो सहन नहीं होगा और घर के सामने बुआवाले खेत में दूसरा आदमी कोई भी कुकृत्य कर सकता है। पहले तो सोहन भइया भी तैयार थे। अब क्या हो गया ? सुना है, वे औरों से बात कर रहे हैं या और लोग चढ़ा-ऊपरी कर रहे हैं। सोहन भइया सोचते होंगे कि रिश्तेदारी में मुरौवत के कारण उन्हें घाटा हो जाएगा। और लोग एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर बोली बोल रहे हैं और वे सबसे ऊंची बोली का इंतजार कर रहे होंगे।

मैंने अपने छोटे भाई को भेजकर कई बार सोहन भइया को बुलवाया। वे कतरा गये। आखिर एक दिन गांव के बाहर मुझसे टकरा ही गए। मैं उन्हें एक पेड़ की छाया में ले गया और पूछा कि आप मेरे यहां आते क्यों नहीं ? उन्होंने इधर-उधर का बहाना बना दिया। मुझमें आत्मीय भाव

जोर मार रहा था उसी के आग्रह से जरा तेज स्वर में पूछा, 'आप जगरानी फूआ के खेतों का क्या कर रहे हैं? सुना है, वेच रहे हैं। उसे तो आपने मुझे देने का वायदा किया था।'

'हां, वेचना तो चाहता हूं लेकिन तुम्हारे गांववाले बेचने दें तब न।'

'क्यों, गांववाले क्यों नहीं बेचने दे रहे हैं?'

'छीन-झपट मची हुई है। चढ़ा-ऊपरी कर रहे हैं। एक-दूसरे से बढ़-चढ़कर बोली बोल रहे हैं। मुझे धमकी भी दे रहे हैं कि अगर मुझे नहीं मिला तो इस गांव में तुम्हारा आना वन्द हो जाएगा। कोई कहता है कि तुम्हें मारकर फेंकवा दूंगा।'

मैं मुस्कराया, 'वाह सोहन भइया, आप तो बहुत उस्ताद हो गए हैं!'

'वाह, इसमें उस्तादी की कौन-सी वात हो गयी?'

'वह आप खुद समझ रहे हैं। मैं जानना चाहता हूं कि ये खेत आप मुझे क्यों नहीं देना चाहते? आपने पहले कहा था।'

'अरे, मैंने कहां अभी किसी को दे दिया। लोग यों ही मेरी जान खा रहे हैं और बोली बोल रहे हैं। अब बोली बोल रहे हैं, तो मेरा क्या जाता है? पैसा किसे बुरा लगता है? ये लोग अपने में जितना चढ़ा-ऊपरी करेंगे मेरा उतना ही फायदा होगा।'

'सो तो होगा। आपके लिए मेरा या हमारे संबंधों का कोई मूल्य नहीं है, बस पैसा ही आपके लिए भगवान् हो गया है? आप नहीं सोचते कि मेरा घर आपका ही घर है और दूसरे लोग आपका ही खेत लेकर आपके घर के सामने पाखाना करेंगे और बड़े गर्व से हंसकर देखेंगे कि देखो, हम पाखाना कर रहे हैं। आप तो बिलकुल निर्लज्ज हो गए हैं!'

'देखो सुरेश, संबंध-वंबंध तो सब ठीक है लेकिन अपना-अपना स्वार्थ सबको पहले दीखता है। तुम्हें भी अपना स्वार्थ दिखाई पड़ रहा है, मुझे भी। इस तरह मजाक करने या धिक्कारने का अधिकार किसी को नहीं है। मेरी बीवी का खेत है यानी मेरा खेत है। मैं जिसे चाहूं बेचूं, जिसे चाहूं न बेचूं।' कहकर वे चलने को हुए।

'ठीक कह रहे हो सोहन भइया, यह आपकी बीवी का खेत है। बीवी का खेत तो अपना ही खेत होता है न। आपने बीवी के लिए चाहे कुछ न

किया हो लेकिन बीवी आखिर बीवी है, उसका तो सब कुछ अपना ही है। जाइए, जिसे चाहे बेचिए। आपका चरित्र यही रहा है, आपसे मैंने उम्मीद ही गलत की थी।'

'हां-हां, दोषी हूं, पापी हूं, यह हूं, वह हूं' कहते हुए सोहन भइया गांव की ओर निकल गए और मैं बगीचे में जाकर एक पेड़ की छांह में बैठ गया।

शरद ऋतु की धूप फैली हुई थी। धूप तेज थी किन्तु उसका चिड़-चिड़ापन कुछ कम होने लगा था। वातावरण में एक सुगंधित नमी फैलने लगी थी। यहां-वहां खेतों में अरहर के बीच-बीच उठे हुए बाजरे की रंग-बिरंगी कलगी झूम रही थी। तालाब के ऊपर से उडते हुए पंछी खेतों में बाजरे के दानों तक जा पहुंचते थे और 'किलोहो, कडेहो' की आवाज में उन्हें हांकने वाले बच्चों की ध्वनियां फूटे कनस्तर की आवाज के साथ फैल जाती थीं। फिर पंछी खेतों में से निकल भागते थे। मुझे अपना बचपन याद आ रहा था। मैं भी अपने सामनेवाले खेत में मचान पर बैठकर चिड़ियां उड़ाया करता था।

कितनी-कितनी यादें जुड़ी हैं इन खेतों से और उनमें सबसे बड़ी याद तो जगरानी फूआ की है। यह सामनेवाला खेत मेरा है और उसकी बगलवाला जगरानी फूआ का यानी सोहन भइया का। इधर मैं अपने खेत में मचान पर बैठा होता, उधर फूआ अपने खेत में होतीं। और खेत में क्या होतीं मेरे ही पास आकर बैठ जातीं। मैं अकेला-अकेला ऊबता रहता तब उनका आकर बैठ जाना कितना अच्छा लगता! वे न जाने कहां-कहां की, किस-किसकी कहानियां सुनातीं। उनकी शैली इतनी रोचक थी कि कहानी में और जान आ जाती। और मेरे वे अकेले दिन बहुत आसानी से बल्कि खुशी से बीत जाते। जिस दिन वे नहीं आतीं उस दिन मैं दिन-भर खेत में केवल चिड़िया उड़ाता; उनके खेत की भी और अपने खेत की भी। फिर भी चिड़िया उड़ाने से कितना अकेलापन कटता? और अगले दिन मैं शिकायती स्वर में फूआ से पूछता कि आप कल आयीं क्यों नहीं, तो कहतीं, 'कोई और काम आ पड़ा था', या 'किसी दूसरे गांव चली गयी थी।' मैं कहता, 'दूसरे गांव मत जाया कीजिए, आप रोज-रोज यहां

आया कीजिए। आपके बगैर मन नहीं लगता।' वे हंस देतीं और फिर उदास हो जातीं। मैं कुछ नहीं समझ पाता कि वे क्यों हंस देती हैं और फिर उदास क्यों हो जाती हैं।

जब से मैंने होश संभाला, फूआ को अपने और अपने परिवार से बहुत गहराई से जुड़ा हुआ पाया। वे प्रायः मेरे घर आतीं, वहीं प्रायः खाना-पीना भी करतीं और मां के काम-धाम में हाथ भी बटातीं। जब मैं कुछ समझता नहीं था तो एक दिन मां से कहा था, 'ये रोज-रोज मेरे घर क्यों आया करती हैं और यहीं क्यों खाती-पीती हैं? और इन्हें मैं लगातार घूमते ही देखता हूं।'

मां ने एक बार मुझे घूरकर देखा। बोलीं, 'ऐसा नहीं कहना चाहिए बेटे, और तुम्हें तो नहीं ही कहना चाहिए।'

'क्यों नहीं कहना चाहिए?'

'इसलिए कि ये न होतीं तो तुम भी नहीं होते! तुम्हारी जिन्दगी उन्हीं की दी हुई है।'

मैं विस्मय से देखता रहा। समझ नहीं पाया कि मां क्या कह रही है?

'मैं तो अकेली रही हूं, कोई आगे न पीछे। न सास न जेठानी न देवरानी। ननदें ब्याहकर ससुराल चली गयी थीं। बस जगरानी ही मेरा हाथ-गोड़ थी। जब तुम पैदा हुए तब भी यह हमारे यहां आ गयी थी। तुम्हारे पैदा होते ही मैं बेखबर सो गयी थी। दाई नार काटकर तुम्हें भी मेरे पास सुला गयी थी। एकाएक जगरानी ने अन्दर हल्ला किया। मैं उठी तो देखा, तमाम लाल-लाल चींटे कमरे में फैले हुए थे और तुम जगरानी की गोद में थे। मैं यह सोचकर डर के मारे कांपने लगी कि यह न आयी होती तो क्या हो गया होता!'

शहर में रहने के बाद कुछ बातें अजीब लगने लगी हैं। शहर में बच्चा साफ-सुथरे वातावरण में पैदा कराया जाता है और देहात में नाबदान वाले घर में। सीलन-भरे नाबदान के कमरे में बच्चा पैदा होता है और वहीं फर्श पर जच्चा-बच्चा दोनों को सुला दिया जाता है। बच्चा पैदा करानेवाली अनाड़ी दाई, नार काटनेवाला उसका मुरदार हंसिया, पड़ोह का सीलन-भरा कमरा···लगता है, बच्चा यहां भगवान् के भरोसे ही

जिन्दा रह पाता है। फिर भी कुछ है संजीवनी देहात में नहीं तो इतने करोड़ लोग आखिर कैसे जिन्दा रहते ?

मुझे लगता है कि फूआ कहीं मुझसे विशेष लगाव अनुभव करती थीं जैसे उन्हें इस बात का अहसास हो कि मैंने इसे बचाया है अतः मेरा है। मां के द्वारा बतायी गयी उस घटना के बाद मेरा मन भी उनके प्रति एक गहरी कृतज्ञता ही नहीं बल्कि गहरा अपनापा अनुभव करने लगा था। ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया त्यों-त्यों उन्हें समझने लगा। पूरे गांव में उनकी खोज होती रहती और वे भी कभी इस घर, कभी उस घर चक्कर काटती रहतीं। किन्तु लगता, जैसे चारों ओर का चक्कर काटकर उनका मन मेरे ही घर आकर ठहरता और जैसे मैं ही वह विन्दु था जहां आकर उनकी सारी दैनिक यात्रा विश्राम पाती थी।

'लोग फूआ को क्यों बुलाया करते हैं मां ? और ये क्यों दिन-भर चक्कर काटती रहती हैं ? क्यों नहीं अपने घर पर रहकर कुछ करती-धरती हैं जैसे और लोग करते हैं ?'

'फूआ का घर कहां है ?'

'वाह, है क्यों नहीं ? मैंने देखा है। गांव से बाहर पच्छिमी किनारे पर बरगद के पास किसका घर है ? क्या वह फूआ का घर नहीं है ?'

'हां, है तो फूआ का ही लेकिन घर उसी को तो नहीं कहते हैं !'

'तब किसे कहते हैं ?'

'अभी तुम नहीं समझोगे बेटे। बड़े होगे तो खुद समझ जाओगे।'

'वाह, अजीब बात है। मैं इतना बड़ा हो गया और घर नहीं समझूंगा ? तू भी मां कमाल करती है।'

मां हंस देती, और फिर उदास हो जाती।

'मां, और सब कुछ तो मैं समझ लेता हूं किन्तु तुम्हारा हंसना और उदास हो जाना नहीं समझ पाता हूं।'

'इसे भी समझ जाओगे, बड़ा होने पर।'

और मैं झल्लाकर वहां से हट जाता। सब कुछ बड़ा होने पर ही समझूंगा ? जब मैं ही सब कुछ समझ लूंगा तो तुम लोग क्या करोगे ? क्या समझानेवालों का कोई जिम्मा नहीं होता ?

मां का हंसना और उदास होना जारी रहता।

और सचमुच मैंने बड़ा होने पर ही समझा कि घर क्या होता है। मेरी शादी हो चुकी थी और शहर में मेरी नौकरी भी लग गयी थी। वहां मैं किराये का मकान लेकर रहता था। सातवें दिन गांव पहुंचता था। मुझे लगता था कि छः दिन मैं घर से बाहर हूं, केवल एक दिन घर में रहता हूं। छः दिन तक घर मुझे जैसे पुकारता था। आखिर घर तो शहर में भी ले रखा था किन्तु लगता था कि वह घर नहीं मकान है। अब मुझे ख्याल आया कि मां क्यों कहती थी कि तुम अभी 'घर' का मतलब नहीं समझोगे।

···फूआ ने मेरे विवाह में कितना उत्साह दिखाया था। गाते-गाते उनका गला बैठ गया था। उन्होंने सारे शुभ और साधारण कार्यों को जैसे अपने ऊपर उठा लिया था। बहू आयी तो फूआ ने मां के साथ मिलकर उसे उतारा और आशीर्वाद दिया। बहू की मुंह-दिखाई की रस्म पूरी करके औरतें निकल रही थीं और उसकी सुन्दरता की प्रशंसा कर रही थीं। मैं बाहर बैठा-बैठा फूआ की आवाज सुन रहा था, 'कितनी प्यारी है मेरी बहू ! जोड़ी का प्यार बना रहें। दूधन नहाओ, पूतन फलो !'

निकलते-निकलते एक खूसट मुंहफट बुड्ढी बड़बड़ा रही थी, 'जहां देखो वहां यह मनहूस औरत आगे-आगे खड़ी दिखाई पड़ती है। भगवान न करे कि इसकी मनहूस छाया किसी पर पड़ें।' और औरतें खिलखिलाकर हंस पड़ीं। मैं सुनकर तिलमिला गया। शायद भीतर बैठी मां, फूआ आदि ने भी सुन लिया हो।

घर के अंदर रह-रहकर गीत चलता रहा। गानेवालों में फूआ की आवाज उभरती रही किन्तु मुझे लगता रहा कि उनकी आवाज में वह अटूट लय अब नहीं रह गयी थी, कांप-कांप जाती थी। हो सकता है, मेरे अपने मन का भ्रम हो।

देखा, कुछ देर बाद फूआ चली गयीं। सब लोग खा-पी चुके तो मां ने मुझसे कहा, 'जाओ, फूआ को बुला लाओ। कहना, मां ने खाना खाने को बुलाया है।'

'वे चली क्यों गयी थीं ?'

'अरे, क्या हमेशा यहीं रहेंगी ? उनके अपने यहां भी तो कुछ काम हो

सकता है। मेरी इतनी सहायता की है; कौन करता है!'

मैं फूआ के यहां पहुंचा। अंधेरे सन्नाटे में डूबा हुआ घर। घर में अंधेरा। सोचा फूआ नहीं हैं फिर पास जाकर देखा तो कमरा बाहर से बंद नहीं था। घर में ही होंगी। और घर भी क्या है, एक कमरा है। बाकी सब कुछ गिरा हुआ। एक अजीब अनुभूति होती है इस कमरे को देखकर। कमरे के चारों ओर टूटे हुए मकान का उजाड़, इस उजाड़ के चारों ओर एक खालीपन और उस खालीपन के कुछ दूर बाद गांव। वृत्त में वृत्त।

मैंने कमरे के पास खड़े होकर आहट लेने की कोशिश की। लगा, भीतर कोई सिसक रहा है।

'फूआ ?'मैंने जोर से पुकारा।

एक चुप्पी-सी छा गयी।

'फूआ।'

'कौन ?'

'मैं हूं, सुरेश।'

'आयी···।' चारपाई के चरमराने की ध्वनि आयी।

लगता है, वे लेटी हुई थीं। आकर भीतर से कमरे की कुंडी खोली।

'अरे फूआ, दिया जला लिया होता। इतने अंधेरे में क्यों लेटी हुई हैं?'

'अंधेरा ? अंधेरा मुझे अच्छा लगता है सुरेश! जब घर में ही अकेली हूं, तो रोशनी जलाकर किसका मुंह देखना है ? अंधेरे में यह तो होगा कि कोई मेरा मनहूस चेहरा तो नहीं देख पाएगा।'

मैं सनाका खा गया। तो फूआ ने उस खूसट बुढ़िया की बात सुन ली थी ? मैंने अनजान बनकर कहा, 'फूआ, तुम्हारा चेहरा कैसे मनहूस हो गया ? यह तो तमाम मनहूस घरों में रौनक ला देता है।'

'जो अपने घर में रौनक नहीं ला सका वह दूसरों के घर में क्या रौनक लाएगा रे ?'

मैं सोचने लगा कि आज फूआ को गहरी चोट लगी है। आज तक कभी मैंने उन्हें उदास होते नहीं देखा है; हमेशा गाते-बजाते, हंसते-बोलते और दूसरों के लिए कुछ न कुछ करते ही देखा है। आज इन्हें क्या हो गया है ? या हो सकता है, रोज ही ये अपने घर के अकेले में इसी तरह आकर

सिसकती हों। लोग तो इन्हें बाहर-बाहर ही देखते हैं, घर के अकेले में तो कोई नहीं देखता। मुझे मां का कहा याद आ गया—'फूआ का घर कहां है ?' सचमुच, अकेलेपन से भरा घर कोई घर होता है ! और मेरे सवालों पर मां का हंसना और उदास हो जाना भी याद आया।

'तुम जाओ भइया, भउजी से कहना, मुझे भूख नहीं है।'

'तो ठीक है फूआ, भूख मुझे भी नहीं है। मैं भी आज तुम्हारे साथ इसी अंधेरे में रहूंगा और तुम्हारे साथ रोऊंगा।'

'धत पगले, रोता कौन है रे ! और तू क्यों रोएगा, रोएं तेरे दुश्मन ! आज तो तेरे जीवन की सबसे मीठी रात है, चांद-सी दुलहन पायी है। और मेरा क्या···'

मुझे लगा, जैसे कुछ कहते-कहते वे कहीं खो गयी हों; किसी सुदुर अतीत की गहराइयों म डूब गयी हों। अंधेरे में उनके चेहरे की प्रतिक्रिया तो दिखाई पड़ती नहीं थी, वस अनुमान ही लगा सकता था।

मैं इस वीच अंदाज से टटोलता हुआ उनकी चारपाई तक चला गया और उस पर लेटता हुआ बोला, 'अच्छा फूआ, मैं तो अब सो रहा हूं; तुम्हारा फैसला हो जाए तो जगा देना।'

'उठ चल शैतान, तू नहीं मानेगा।'

'यह हुई न कुछ बात !' कहता हुआ मैं चारपाई से उठ आया और फूआ को घसीटता हुआ बाहर ले चला।

'अरे रुक तो, ताला तो बन्द कर दूं।'

'ताला ?'

'हां ताला। वैसे इस घर में है ही क्या कि कोई ले जाएगा लेकिन कुछ चोर इतने घटिया किस्म के होते हैं कि गुदड़ी तक उठा ले जा सकते हैं। घर में पैठने के बाद सोचते हैं कि भागते भूत की लंगोटी ही भली।'

मैं हंसा था, 'वाह फूआ, तुम्हारा सेंस ऑफ ह्यूमर तो बहुत विकसित है !'

'यह क्या होता है रे ?'

'वही, जो तुम अभी कह रही थीं।'

हम दोनों ठठाकर हंस पड़े थे।

उस रात को लेटा हुआ फूआ के बारे में ही सोच रहा था कि कोई मुझे बुला ले गया। इस बार जितने दिन घर रहा, रात को फूआ के बारे में सोचना चाहकर भी नहीं सोच सका किन्तु जब शहर आया तो रात कटने का नाम ही नहीं लेती थी। पहली बार बीवी का चेहरा याद आता था। उसके साथ बीते हुए क्षण याद आते थे। उसके साथ समय बिताने की ललक मन को कचोटती थी और धीरे-धीरे जगरानी फूआ की भी याद आने लगी थी…

उस दिन मां से किया हुआ अपना संवाद याद आ रहा है, 'क्यों मां, जगरानी फूआ क्यों घूमती-फिरती रहती हैं? अपने घर पर रहकर कुछ करतीं-धरतीं क्यों नहीं?'

तब मां ने कहा था, 'फूआ का घर कहां है?'

'वाह, है क्यों नहीं? मैंने देखा है।'

'तुम अभी नहीं समझोगे बेटे। बड़ा होने पर सब समझ जाओगे।'

और समयबोध के साथ मैं सचमुच खुद ही समझता गया कि घर का मतलब मकान नहीं होता, कुछ और होता है। कुछ और यानी किसी और का अपना हो जाना। वैसे तो बचपन में व्यक्ति अपनों के बीच ही होता है लेकिन यह कितनी विचित्र बात है कि अपने धीरे-धीरे अपर्याप्त लगने लगते हैं और धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं और एक पराया व्यक्ति निहायत अपना हो जाता है। घर का अर्थ है अपनेपन का साक्षात्कार। यह अपनापन बदलता या विकसित होता रहता है। बचपन में मां-बाप, भाई-बहन के अपनेमन से घर बनता है; जवानी में पति या पत्नी के अपनेपन से। घर दीवारों का घेरा नहीं है; घर वह है जिसकी दीवारों पर गुनगुनी धूप की पंक्तियां लिखी होती हैं, जिसके अवकाश में धारोष्ण दूध की तरह स्पर्श की ऊष्मा तैरती रहती है। फूआ का घर क्या है? जब से मैंने होश संभाला, फूआ को अकेले ही देखा। और घर? उसमें क्या था! गिरे हुए मकान में गिरने-पड़ने से रुका-रुका-सा एक कमरा जिसमें घर के कुछ पुराने टूटे-फूटे सामान, कुछ कपड़े-लत्ते बिखरे पड़े होते। उसमें हमेशा मुझे एक सीलन-सी अनुभव होती। बचपन में तो उस घर की इस हालत के प्रति सचेत नहीं हो सका किन्तु ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया, इस

घर की अपनी यह निजी पहचान मेरे भीतर उतरती गयी। और जब मुझे यह मालूम हुआ कि यह घर केवल घर नहीं, फूआ की भीतरी जिन्दगी का प्रतिरूप है तब से यह पहचान अधिक संक्रांत हो गयी।

हां, मां बताती हैं, 'जगरानी के पिता धनी आदमी थे, उनके पास काफी खेत थे। मगर वे जगरानी के बचपन में ही मर गए। जगरानी अपने बाप की इकलौती संतान थीं। अब बचीं केवल जगरानी और उनकी मां। कितने कठिन दिन थे वे इनके लिए! लेकिन जगरानी को बाप का भरपूर प्यार मिला था और मां का भी उतना ही प्यार मिला। सारे संघर्षों के बीच मां-बेटी का आपसी प्यार उनकी शक्ति बन गया था। वे टूटीं नहीं। धीरे-धीरे मां आवश्यकतावश खेत बेचती गयीं और जब जगरानी जवान हुई तो मां को उसकी शादी की चिंता हुई। जगरानी की जवानी फागुनी हवा की तरह फटी पड़ रही थी। क्या खूबसूरती थी! ···मां को चिंता खाए जा रही थी। रांड़ की बेटी···सभी रांड़ को असहाय समझते हैं। पता नहीं कौन-कब उसकी बेटी की जवानी को कलंकित कर दे।

'तुम्हारे सोहन भइया अक्सर हमारे ही घर रहते थे। उनकी मां तुम्हारे पिता जी की अद्भुत लाड़ली बहन थीं। वे भी प्राय: यहीं रहतीं। जगरानी की मां ने जगरानी के लिए सोहन को पसंद कर लिया और तुम्हारे पिता जी की कोशिश से शादी हो गयी। लेकिन सोहन के पिता एक ही लालची थे, करकर सुकल जो ठहरे! भला इतनी ऊंची जाति आसानी से कहां मिलती है? उन्होंने मुंह फैला दिया। जगरानी की विधवा मां को बेचैनी थी अपनी बेटी को सही-सलामत पार लगाने की। मगर बेचारी के पास पैसे थे कहां? काफी खेत रेहन रखने पड़ गए। सुकुल जी की आत्मा तब भी तृप्त नहीं हुई। तुम्हारे पिता जी और तुम्हारे फूफा जी से बारात में झगड़ा भी हो गया।'

मैं कल्पना करता हूं कि जगरानी फूआ भी गहमागहमी के साथ ससुराल गयी होंगी, गाने-बजाने के बीच उतरी होंगी, औरतों ने उसका सूर्यमुखी-सा चेहरा देखकर तरह-तरह से प्रशंसा की होगी या ईर्ष्या से जली होंगी। और फूल-सी सुहागरात आयी होगी जिसमें जगरानी फूआ

ने भी न जाने कितने सपने देखे होंगे। उन्हें अनुभव हुआ होगा कि जन्म-जन्मांतर से प्यासी आत्मा जिसकी खोज में थी वह मिल गया है। अपनी मां के अपनापे का दायरा तोड़कर उस अपनापे के घेरे में आ गयी हैं, जहां दो तन एक तन और एक मन हो जाते हैं, और जहां से आत्मविस्तार होता है; हां, आत्मविस्तार! उन्होंने आंखें मूंदकर देखा होगा कि उनका अपना एक घर है जिसमें वे हैं, उनका प्रियतम है और उनकी कोख से उगते हुए कुछ कमल के फूल हैं।

'जागते रहो!' पहरेदार की आवाज लूक की तरह सन्नाटे को चीर गयी।

···अरे, इतनी रात चली गयी? यहां तो यों ही जागे हुए हैं भाई, काहे को चिल्लाते हो? अजीब बात है, रात सोने के लिए होती है और पहरेदार चीखता है, जागते रहो। आखिर लोग निश्चिंत सोने के लिए ही तो पहरेदार लगाते हैं। अगर हमें जागना ही होता तो तुम्हारा क्या काम होता भाई?···

इतनी रात हो गयी, मुझे सो जाना चाहिए। मैंने सोने की चेष्टा की, फिर ध्यान उचटकर घर की ओर चला गया। मैं सो रहा था, मन जाग रहा था। ऐसे ही कभी-कभी लगता है कि दुनिया के काम-काज के बीच मन का एक दर्द भरा पहलू सो गया है लेकिन वह सोया नहीं होता। क्या जगरानी फूआ के साथ ऐसा ही नहीं है?

वे गाती हैं, बजाती हैं, लोगों की सेवा करती हैं, इस गांव से उस गांव तक के सामाजिक और सांस्कृतिक समारोह उनकी भागीदारी के बिना संभव नहीं हो पाते। दूसरों की खुशियों को अपनी खुशियां बनाकर वे हंसती-मुस्कराती हैं लेकिन मन के भीतर दर्द की एक ऐसी टीस सोयी है जो घर का एक अपरिहार्य हिस्सा बन गयी है; और मुझे लगता है, जब फूआ बाहर की दुनिया में हवा के झोंकों की तरह उड़ने के बाद घर लौटती होंगी तो वह टीस जाग पड़ती होगी। लगता है, वे इस टीस से भागने के लिए ही बाहर की दुनिया में खो जाना चाहती हैं। लेकिन यह दुनिया भी क्या है? कोई न कोई बात ऐसी उछाल देती है कि फूआ घर में आकर भहरा पड़ती होंगी और वह टीस जाग पड़ती होगी। वह टीस तो वैसे भी

इस घर के दरो-दीवार में समाई होगी जिसे देखते ही फूआ की सामाजिक मन अकेलेपन की लपेट में आ जाता होगा। मैंने फूआ को उस दिन जिस रूप में देखा था वही रूप प्राय: होता होगा।

मां बताती हैं, 'जगरानी शादी के साल-भर बाद आयीं तो उदास-सी लगीं। कुछ दुबली भी हो गयी थीं। पूछने पर कुछ बताती नहीं थीं। वैसे तो मुझे मालूम था कि सोहन के घर खाने-पीने की कमी रहती है, और ननद जी थोड़ी खरदिमाग हैं फिर भी यह आशंका नहीं थी कि साल-भर में ही वे बहू के साथ कुछ ऐसा-वैसा रंग दिखाएंगी कि वहू बुझ जाए। इसीलिए मैं बार-बार जगरानी से पूछती थी—कहो, क्या बात है?

'कुछ तो नहीं भउजी, सब ठीक है।

'होली के आसपास के दिन थे। जगरानी का कंठ ही प्यारा नहीं था, वे गाने-बजाने में बहुत उछाह से भाग लेती थीं और होली के अवसर पर तो उनकी मस्ती की बात ही मत पूछो। लगता था कि वे फागुनी हवा हो गयी हैं; गाती हुई घर से लेकर खेत-खलिहानों, बाग-बगीचों तक उड़ती-फिरती थीं। लेकिन इस बार चुप थीं। मैंने अपने साथ गाने को बहुत उकसाया लेकिन वे चुप रहीं। बहुत कोंचने पर दो-चार कड़ी गाती थीं, फिर उनका स्वर कांपने लगता था जैसे गाते-गाते सामने कोई भयानक दृश्य देख लिया हो या भीतर ही कोई ऐसी दहशत समा गयी हो जो गाते-गाते उभर आती हो।

'उस होली में न वे रंग खेलने निकलीं, न गाने-बजाने। उन दिनों होली की रात को मर्दों और औरतों के बीच फाग का कंपटीशन होता था। यह रात-भर चलता था। औरतों में केवल बहुएं ही नहीं, गांव की लड़कियां भी होती थीं और जगरानी की उसमें मुख्य भूमिका होती थी। लेकिन इस वर्ष वे इसमें भाग नहीं ले सकीं और औरतें हार गयीं।

'कुछ दिनों बाद ननद जी आयीं तो उनसे जगरानी के बारे में पूछने की इच्छा हुई। लेकिन चुप रही। वे एक दिन बाद खुद ही बरस पड़ीं—न जाने, तुम लोगों ने कैसी बहू दिला दी।

'क्यों, क्या हुआ ननद जी?

'हुआ क्या, इसकी तो कोख ही ठस लगती है।

'अरे, अभी तो सिर्फ साल-भर हुआ। साल-भर में ही आपने उसकी कोख का फैसला कैसे कर लिया?

'अरे, जिसकी कोख फलनी होती है तुरंत फल जाती है; नहीं फलनी होती तो कभी नहीं फलती। मेरे तो एक ही बेटा है, अगर सचमुच इसकी कोख ठस निकली तो मेरा तो वंश डूब जाएगा।

'वाह ननद जी, आप तो बहुत जल्दबाज निकलीं। लगता है, आपने जगरानी को कुछ कहा है तभी उदास-उदास-सी लगती है। पूछने पर कुछ बोलतीं ही नहीं।

'अरे, तो मैं कहूंगी नहीं? क्या मैं किसी से डरती हूं?

'डरोगी क्यों? आग लगाने की तो तुम्हारी पुरानी आदत है। हमारे घर में क्या तुमने कम आग लगायी है? मुझे अपने लाडले भाई से कम पिटवाया है? अब अपने घर को उजाड़ने पर तुली हो। तुम्हें सोचना चाहिए कि वह तुम्हारी बहू ही नहीं है, तुम्हारे अपने मायके की है, बहन लगती है।

'ननद जी कुछ देर तक बलबलाती रहीं, फिर चुप हो गयीं। शायद अपने भाई साहब से नालिश भी की लेकिन भाई साहब को शह देने वाली उनकी प्यारी मां यानी मेरी सास अब नहीं थीं इसलिए वे चुप रहे बल्कि बहन को ही डांटा।

'लेकिन मुझे लग गया कि कुछ अघटित घटेगा। फिर भी विश्वास था कि जगरानी की कोख भरेगी ही और तमाशे नहीं होने पाएंगे। और कहीं नहीं भरी तो? तो…?'

कहते-कहते मां भर आयीं। जैसे इतने दिनों पहले घटित घटनाएं अभी भी ताजा हैं। पहले तो मां कुछ पूछने पर हंसतीं और उदास हो जाती थीं लेकिन मुझे अब चीजों को समझने का पात्र जानकर कुछ खास घटनाएं बयान कर देती थीं; टुकड़ों-टुकड़ों में। और इसी तरह धीरे-धीरे मैं न जाने कितना कुछ जान गया हूं फूआ के बारे में।

मां का बहुत गहरा लगाव है फूआ से; एक अच्छी ननद-भाभी का-सा लगाव। लगता है, मेरी असली फूआ की जगह जगरानी फूआ से ही उन्होंने ननद का सुख पाया। कभी-कभी उनसे मजाक की नोक-झोंक भी

कर लेती थीं। एक बार मेरी हालत खराब हो गयी। मैं खड़ा था और दोनों में नोक-झोंक हो रही थी। मां से मैंने कहा, 'क्यों फूआ को परेशान कर रही हो मां ?'

'तू इन्हें फूआ क्यों कहता है रे ? ये तो तेरी भउजी हैं।'

'भउजी ?'

'हां भउजी। तेरे सोहन भइया की बीवी नहीं हैं ये ? आज से इन्हें भउजी कहा कर।'

फूआ के गाल लाल हो गए और मैं भी शरमा गया, 'धुत्।'

सचमुच रिश्ते कितने विचित्र हो जाते हैं कभी-कभी। फूआ और भउजी साथ-साथ।

घंटा बजा टन्-टन्-टन्-टन्···बारह बज गए। अब सोना चाहिए, नहीं तो कल ऑफिस में काम कैसे होगा।

मैंने सोने की कोशिश की। करवट बदली। एक चेहरा मेरी आंखों में भर गया। इसी तरह 'वह' भी जाग रही होगी। कितनी प्यारी-मासूम आंखों से उसने पहली बार मुझे देखा था। वे आंखें अभी भी मेरी आंखों में भरी हुई हैं। हर बहू अपनी प्यारी मासूम आंखों में एक सपना भरे होती है और धीरे-धीरे···धीरे-धीरे मेरी बहू की आंखें, फूआ की आंखें बनती चली गयीं और फूआ···

मां ने बताया था, 'चार-पांच साल बीत गए और जगरानी की कोख नहीं फली। जगरानी बुझती चली गयीं। उनके प्रति सास-ससुर, पति, सबका व्यवहार रूखा होता चला गया। वे रूखे व्यवहार से उतनी परेशान नहीं थीं जितनी अपने भविष्य के डर से। उनके लाल-लाल, गोल-मटोल गाल पिचक गए, उन पर झाइयां पड़ने लगीं।

एक दिन वे आयीं और फफककर रोने लगीं—भउजी !

'क्या है जगरानी ?

'वे लोग, वे लोग···

'क्या वे लोग, कौन लोग ?'

'रोते-रोते उनकी घिग्घी बंध गयी। मैंने उन्हें छाती में भर लिया—बोलो ननद रानी, क्या हुआ ?

'वे लोग उनकी दूसरी···

'क्या दूसरी ? क्या दूसरी शादी कर रहे हैं ?

'हां-आं-आं-आं।

'ऐसे चिल्लायीं जैसे कसाई के खूंटे पर गाय 'बांआंआं' कर रही हो।

'उस दिन तुम्हारे पिता जी और मुझमें खूब झगड़ा हुआ। तुम्हारे पिता जी कह रहे थे कि क्या मरद कई-कई शादियां नहीं करते ? इसमें कौन-सी अनहोनी बात हो गयी ! आखिर बहन का एक ही लड़का है, उसका वंस नहीं चलेगा तो क्या होगा ?

'बंस कैसे नहीं चलेगा ? बच्चा नहीं पैदा होता है तो लोग दवा-दारू कराते हैं, सोखैती-ओझैती कराते हैं, मनौतियां मानते हैं। जब यह सब फेल हो जाए तब आदमी को दूसरी शादी करने की सोचना चाहिए।

'तुम्हें कैसे मालूम कि यह सब कुछ नहीं हुआ है ?

'मालूम है मुझे, सब मालूम है। कुछ नहीं हुआ है। तुम्हारी बहन और बहनोई दहेज के लालच में सोहन की दूसरी शादी करना चाहते हैं और इस असहाय लड़की को दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंकना चाहते हैं। तुम समझाते क्यों नहीं, इन दोनों लालचियों को !

'जाकर तुम्हीं समझाओ। मैं इन सब झमेलों में नहीं पड़ता।

'तुम क्यों पड़ोगे, तुम्हें तो एक और बारात करने का मौका मिल जाएगा। थोड़ा राग-रंग रहेगा। एक लड़की की जिन्दगी बरबाद होती हो तो हो।'

पिता जी झल्लाकर चले गए थे किन्तु मां बहुत उद्विग्न रहीं। कई दिन तक खाया-पिया नहीं। जगरानी की व्यथा उनकी नस-नस में भर गयी थी।

आखिर सोहन भइया की दूसरी शादी हो ही गयी। शादी से पहले सोहन भइया ने जगरानी फूआ को बहुत समझाया कि तुम्हें कोई तकलीफ नहीं होने दूंगा। तुम दोनों सौत की तरह नहीं बहन की तरह रहना। किन्तु जगरानी फूआ कुछ नहीं बोलीं। वे स्तब्ध हो गयी थीं। न किसी से बोलना न चालना, न गाना न बजाना। शादी के सजीव माहौल में जैसे वे एक निर्जीव सत्ता-भर हों। फूआ सवेरे-सवेरे बहुत उछाह में

उठीं कि आज दुल्हन आएगी मगर उठकर देखा कि जगरानी घर में नहीं थीं। इधर देखा, उधर देखा, किन्तु कहीं नहीं मिलीं।

मां बताती हैं कि जगरानी तो बहुत सवेरे उठकर यहां चली आयी थीं। उनकी मां ने कहा, 'क्यों बेटी, आज तुम्हारे यहां दुलहन आने वाली है और तू यहां चली आयी ?

'हां रे माई, चली आयी। क्या तुझे बुरा लगा ?

'बुरा का सवाल नहीं है रे, आखिर तेरा घर तो वही है न।

'जहां सौत आती है वह घर होता है माई ? तुम्हें बुरा लगा हो तो मैं कहीं और चली जाऊं; रन में, वन में, नदी-नाले में, कुएं में। लेकिन मैं जीते-जी सौत का मुंह नहीं देखूंगी; सौत की सेवकाई नहीं करूंगी।

'नहीं बेटी, रन-बन में जाए तुम्हारे दुसमन ! तुम यहीं रहो। तुम मेरी बुढ़ौती का सहारा भी रहोगी और तुम्हारा भी जीवन कट जाएगा। आखिर ये खेत-बारी तुम्हारे ही तो हैं !—कहकर जगरानी को उनकी मां ने गोदी में भर लिया, और दोनों देर तक फ़फक-फफककर रोती रहीं।

'सोहन बुलाने आए तो जगरानी ने जाने से साफ मना कर दिया। सोहन ने डराया-धमकाया, खुशामदें कीं, पंचायत बुलाने की धमकी दी; लेकिन जगरानी जो एक बार न जाने की जिद पर अड़ीं, तो अड़ी ही रहीं।

'तो फिर समझ लो, मुझसे तुम्हारा कोई वास्ता नहीं है !

'जहां तक आपका मुझसे वास्ते का सवाल है, उसे तो आपने तोड़ ही दिया और जहां तक आपसे मेरे वास्ते का सवाल है उस पर आपका बस नहीं है।

'तो ठीक है।—सोहन झल्लाकर चले गए थे।

'तुम्हारी बतासी फूआ भी आयीं। उन्होंने भी आंधी-पानी की तरह बहुत लह-लह-लह-लह किया किन्तु जगरानी उनसे मिलने ही नहीं आयीं; यही औरत विष की जड़ है। इससे क्या मिलना।

'गांव वालों ने भी जगरानी के बारे में मुंहामुंही बहुत कुछ कहा—अरे भाई, तो कौन-सी आफत आ गयी ? सब लोग करते हैं। यह लौंडिया सारी जिनगी ऐसे ही नइहर में पड़ी रहेगी ? अभी सारी जवानी पड़ी है, कहीं पांव ऊंचे-नीचे पड़े तो ?…

'वह तो पड़ेगा ही, लेकिन क्या फरक पड़ेगा ? उसका फल सामने तो आएगा नहीं, बांझ होने में यही तो फायदा है।

'जगरानी के बारे में ऐसी बुरी बातें कहीं मैं सुन लेती तो मन तीता हो उठता। इच्छा होती, कहने वाले का मुंह नोच लूं। लेकिन किस-किसका मुंह नोचूं। नारी के बारे में इस तरह 'राम-चरचे' सनातन काल से चले आ रहे हैं। जगरानी एकदम बुझ गयी थीं। न निकलती थीं, न पैंठती थीं। घर के किसी कोने में उदास-उदास पड़ी रहतीं।

'एक दिन मैंने उनसे कहा—फूल-सी औरत छोड़कर सोहन एक पहाड़ उठा लाये है और अब पूरा घर खुश है उसको लेकर। मेरी ननद महारानी भी बड़ी बड़ाई कर रही थीं। मैंने तो उन्हें जी-भर पिला दिया—लठैंत घर की है न। तुम लोग उसके साथ कुछ करोगे तो खैर नहीं है। जगरानी के आगे-पीछे भी लठैत घर होता तो तुम लोग यह हिम्मत नहीं करते। उसे बेचारी समझकर दूध की मक्खी की तरह निकाल दिया।

'ननद जी नाराज हो गयीं और तनतनाकर बोलीं—तुम हमेशा उसी का पक्ष लेती हो। उसे निकाला किसने ? वह तो खुद ही निकल आयी। क्या उस बांझ को लेकर हम अपने कुल का नाश करते ? सोहन का क्या बिगड़ा, वह तो नयी औरत के साथ मगन है। अब यह ठसके से यहां आयी और न जाने का हठ ठान लिया तो मरे रो-रोकर। देखें, इसका घमंड कब तक रहता है।

'जगरानी की उदास पलकें थोड़ा फड़फड़ाईं, ओठों पर एक हलकी मुस्कान आयी, चेहरे पर एक निश्चय का भाव उभरा और वे उठ खड़ी हुईं :

'भउजी, कह देना अपनी ननद जी से कि मैं मर जाऊंगी लेकिन उनके दरवाजे पर घुटने टेकने कभी नहीं आऊंगी। और मैं मरूंगी नहीं, जीने के लिए पैदा हुई हूं।'

'और वे उसी समय चौताल की एक कड़ी गुनगुनाने लगीं।

'मुझे अच्छा लगा।

'दो दिन बाद होली पड़ी। रात को मरदों-औरतों का फाग कंपटीशन शुरू हुआ। आधी रात गुजर गयी। औरतें कमजोर पड़ने लगीं। वे पुरुषों

द्वारा गाये गए चौताल या बैसवारा के भावानुकूल उत्तर नहीं दे पा रही थीं। वे व्यंग्य करने लगे। एकाएक पासा पलट गया। औरतों ने देखा कि जगरानी आकर उनके बीच बैठ गयी हैं। पुरुषों ने एक नये स्वर का अनुभव किया—जगरानी आ गयी क्या?—और फिर कंपटीशन में जान आ गयी।

'फिर तो जगरानी फागमय हो गयीं। दूसरे दिन उनकी मस्ती देखकर लोग दंग रह गए। उन्होंने आसपास की लड़कियों का झुंड बना लिया और होली गाती हुई रंग खेलने लगीं। गांव-भर की सहेलियों और भाभियों से वह रंग खेला कि वृन्दावन मात हो गया। तरह-तरह की निगाहें और आवाजें उन पर उठीं और गिरीं लेकिन आज तो जैसे वे हवा बनकर सूखे पत्तों जैसी सारी निगाहों और आवाजों को कुचलती-उड़ाती हुई बहने पर आमादा हो गयी थीं।

'मैंने कहा—हां ननदजी, यह हुई न कुछ बात।'

'हां भउजी, अब यही बात वहां पहुंचेगी कि मैं किसी के बिना भी मस्ती से जी सकती हूं।'

टन···टन···

'ओह दो बज गए, अब सो ही जाना चाहिए।' और मैंने आंखें मूंदकर सोने की कोशिश की। पता नहीं कब सो गया।

और इस बार न जाने क्या हो गया कि जब भी मैं सोने जाता घर मेरी आंखों में उभर आता; पत्नी का चेहरा अंधेरे में कमल के फूल की तरह खिल जाता और मैं उस चेहरे से होता हुआ जगरानी फूआ के चेहरे तक पहुंच जाता। न जाने कितनी सुनी-सुनायी बातें उस चेहरे के इर्दगिर्द मंडराने लगतीं और फिर पक्तिबद्ध खड़ी हो जातीं जैसे कथा की तरतीब-दार पंक्तियां हों।

जब मैंने होश संभाला, फूआ पैंतीस पार कर चुकी थीं। तब से मृत्यु तक मैंने उन्हें एक ही रूप में देखा। लेकिन मैं तो सौत को अदेखी छोड़कर लौटी हुई फूआ के जवान चेहरे को देखना चाहता था। कैसा लगता रहा होगा वह चेहरा? एक सुन्दर चेहरा जिस पर न जाने कितने ताजा-ताजा भाव एक-दूसरे को काटते हुए या एक-दूसरे में गुंथते हुए उभरते

रहे होंगे; पतिप्रेम, सौत के प्रति नाराजगी, खालीपन, जीवन का एक असुरक्षा और यातना का बोध फिर जीवन्त ऊर्जा के साथ एक चुनौती-भरी मुद्रा में उठ खड़ा होना और हंसते-गाते जीवन-यात्रा के साथ हो लेना।

फूआ और उनकी बूढ़ी मां खेतों में काम करती रहतीं। विकते-बिकते, रेहन चढ़ते-चढ़ते खेत काफी कम रह गए थे। गरीबों के रेहन चढ़े खेत या गहने लौटते नहीं। उन्हें लौटा लेने की शक्ति वे कहां बटोर पाते हैं! बचे हुए सात-आठ बीघे खेतों में कुछ बटाई में दिये गए थे। बाकी खेतों में मां-बेटी काम करती थीं। खेत बोती थीं, निराई करती थीं, सिंचाई करती थीं, काटती थीं, ढोकर खलिहान में लाती थीं, दंवाई करती थीं। साथ में एक हलवाहा होता था। दो बैल थे, उनका सानी-पानी करना भी होता था। उसके लिए घास भी उखाड़कर लाना होता था। फिर घर में चूल्हे-चक्की का काम था।

लेकिन फूआ के चेहरे पर कोई शिकन नहीं आती थी। उन्हें जैसे हर काम में एक चुनौती नजर आती थी। जैसे वे महसूस करती थीं कि उन्हें कोई देख रहा है और व्यंग्य से मुस्कराकर कहना चाहता है, 'चख लिया, घर छोड़कर आने का फल।'

वे किसी को इस प्रकार व्यंग्य से हंसने का मौका देना नहीं चाहतीं इसलिए स्वयं हंसती रहती हैं। नहीं, उन्हें कोई परेशानी नहीं। स्वाभि-मान से जीने का मजा ही और है।

और इस जीने के लिए जो कठोर मेहनत करनी पड़ती है उसका आनंद अद्भुत है। नहीं, वे अपने फैसले पर पछता नहीं रही हैं, बहुत संतोष पा रही हैं।

फूआ थकी-मांदी होतीं तो मां के पास आकर बैठ जातीं। मां पूछती, 'कहो कैसी हो? बहुत थकी हुई लग रही हो।'...

'अरे कहां भउजी, ठीक तो हूं।'

'अच्छा, कुछ खा-पी लो।'

'अरे, अभी जाकर कुछ बनाती हूं न।'

'यहीं कुछ खा लोगी तो क्या हो जाएगा?'

'और मां ?'

'उनके लिए जाकर बना देना।'

दोनों हंस पड़तीं और फूआ कोई गीत गुनगुनाने लगतीं।

एक दिन मां का सिर दुख रहा था। फूआ आयीं तो बोलीं, 'क्या बात है भउजी ? उदास क्यों हो ?'

'कुछ नहीं, जरा सिर दुख रहा है।'

'लाओ दबा दूं।'

'अरे, नहीं-नहीं, अभी-अभी दबवाया था बिटिया से।'

'अरे, उसके और मेरे दबाने में फरक है भउजी।'

'तो क्या तुम मंतर जानती हो ?'

'हां, मैं मंतर जानती हूं। तभी तो कह रही हूं।'

मां मुस्करायीं लेकिन फूआ गंभीर हो गयीं और मां का सिर पकड़-कर दबाने लगीं तथा मुंह में कुछ मंतर बुदबुदाने लगीं। मां को हंसी आ रही थी फूआ के इस नाटक पर लेकिन फूआ पूरी गंभीरता से इस कार्य में जुटी थीं। काफी देर बाद उन्होंने मां का सिर छोड़ा तो मां सचमुच राहत अनुभव करने लगीं।

'ठीक हो जाएगा भउजी।'

'यह मंतर कहां सीखा ननद जी ? किसी जोगी के पाले पड़ गयी थीं क्या ?'

'तुम तो मजाक करने लगीं भउजी। अरे, सचमुच मैंने सीखा था। मेरे पड़ोस में एक बूढ़ी औरत रहती थी; उसी ने सिखाया था। मैंने सीख लिया था कि चलो, कभी-कभी पतिदेव पर मंतर का असर दिखाने का मौका मिलेगा।' कहते-कहते वे उदास हो गयीं। मां ने लक्षित किया। बोलीं, 'अरे सचमुच फायदा हो रहा है ननद जी। तुम्हारे हाथ में तो जादू है।'

'जादू ? सच भउजी ?'

'हां रे।'

और लगा कि फूआ का चेहरा रुआंसा हो गया है; अब रो पड़ेंगी, तब रो पड़ेंगी। और वे झटके से उठकर चली गयीं।

मां अवाक् देखती रहीं। और काफी देर तक फूआ के खयालों में ही खोयी रहीं।

और काफी देर बाद उन्हें महसूस हुआ कि उनका सिर दर्द कम हो गया है। क्या सचमुच जगरानी मंतर जानती है? उन्होंने मजाक-मजाक में कुछ लोगों से कह दिया। फिर तो पूरे गांव में मशहूर हो गया। फिर जिसे देखो वही फूआ के यहां चला जा रहा है सिरदर्द ठीक कराने। फूआ ने मंतर की विश्वसनीयता को बढ़ाने के लिए कुछ ताम-झाम भी शुरू कर दिया। वे हंसुआ हाथ में ले लेतीं और उसे बार-ब्रार उस व्यक्ति के ललाट से छुआती जाती थीं। हाथ से उसके ललाट को निचोड़-निचोड़कर बीच-बीच में 'छू' करके फूंक मारती थीं।

आज सोचता हूं, पता नहीं फूआ मंतर जानती थीं कि नहीं लेकिन मुझे लगता हैं कि उन्होंने इसे सामाजिक सेवा का एक वहाना वना लिया था। ऐसी सेवा लोगों में एक मनोवैज्ञानिक राहत भी भरती है और स्वयं को एक सामाजिक सार्थकता प्रदान करती है।

एक दिन मां उदास वैठी थीं कि फूआ आ गयीं, 'क्या बात है भउजी?'

'आओ-आओ जगरानी।'

'लो, आ तो गयी। अब कहो बात क्या है? उदास क्यों हो? फिर सिर दुख रहा है?'

मां हंस पड़ीं, 'नहीं तो जगरानी। कई दिन हो गए, तुम्हारे भइया नहीं आए।'

'कहां गए हैं?'

'गए हैं मेले में, बैल खरीदने। आज आठ दिन हो गए, आए नहीं। जी टंगा हुआ है।'

'लाओ मैं सगुन उचारती हूं।'

'अच्छा! यह गुन भी जानती हो?'

'हां भउजी, मैं कौन गुन नहीं जानती!' उन्होंने सूप और लोढ़ा मंगाया। सूप का ऊपरी सिरा उंगलियों से पकड़ लिया और नीचे के हिस्से पर लोढ़ा रख दिया और सवाल किया कि मेरे भइया कुशल से हैं न?

सूप हिलने लगा।

'वे बीमार हैं ?'

सूप नहीं हिला।

'लो भउजी, भइया कुशल से हैं। चिंता मत करो !'

उन्होंने फिर पूछा, 'भइया आ रहे हों तो बताओ।'

और किसी ने राह चलते-चलते चौताल की एक कड़ी छेड़ दी :

गोरी बैठि उचारे सगुनवा
पिया कब अइहें भवनवां...

फूआ ने सुना और उनके हाथ में उठा हुआ सूप जोर-जोर से हिलने लगा।

'तो भउजी, तुम्हारे प्रियतम आ रहे हैं।'

संयोग देखिए कि उसी समय पिता जी हाथ में बैल की रस्सी पकड़े आते हुए दिखाई पड़े। दोनों ने सगुन के विस्मयकारी प्रभाव को देखा। मां ने हंसकर फूआ की ओर देखा, अरे, इसके चेहरे को क्या हो गया ? लगता था जैसे भीतर का कोई वेग फूट पड़ना चाहता है और वे उसे रोके हुए हैं। मां ज्यों ही पिता जी की ओर बढ़ीं, फूआ वहां से तेजी से खिसक गयीं। मां को फूआ के एक और गुण को उजागर करने का मौका मिला।

अब जिसे देखो वही फूआ के घर भागा जा रहा है। बहुएं तो अक्सर उन्हें अपने पास बुला भेजती थीं। तरह-तरह की बातें जानने के लिए लोग उनसे सगुन उचरवाते थे। किसी को पास होना है, किसी की कोई चीज खो गयी है, किसी के पति कहीं गए हैं, नहीं आए।

और फूआ ने मां द्वारा प्रचारित इस गुण को भी पूरे तामझाम के साथ विकसित किया। उन्होंने सूप और लोटा के अतिरिक्त सगुन के और भी कई तरीके निकाल लिये। सांस रोककर और छोड़कर पहले भूमिका बांधती थीं और फिर अपने साधनों का प्रयोग करती थीं।

मैंने बहुत बाद में उनसे एक दिन पूछा था, 'फूआ, क्या तुम्हें अपनी सगुन विद्या में विश्वास है ?'

वे मुस्करायीं, बोलीं—'यह तो मैं नहीं जानती, किन्तु इतना जानती हूं कि लोग विश्वास करते हैं। कितने छोटे-छोटे सुख-दुःख हैं लोगों के,

कितनी छोटी-छोटी आशाएं लेकर जीते हैं ! सगुन उनके दु:खों को थोड़े भुलावे में डालकर उनके सुखों और आशाओं को सहलाता है और लोग इनके सहारे जीते चलते हैं। मैं उनके जीने के सहारे का एक छोटा-सा टुकड़ा बन जाती हूं। यह मेरे जीने के लिए भी कितना जरूरी बन जाता है बेटे !'

मैं चकित रह गया, यह अपढ़ औरत अपने अनुभव के बल पर कितनी बड़ी बात सीख गयी है ! पंडितों की किताबी भाषा से जीवन के अनुभव की यह भाषा कितनी भिन्न और ठोस है !

मां बताती हैं, 'जगरानी को विचित्र-विचित्र परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है। वे कभी-कभी अपनी ही सद्भावना के जाल में फंसकर तड़फड़ाने लगती थीं। उनकी सगुन विद्या बहुत मशहूर हो गयी थी। एक दिन की बात है, मैं पड़ोस के घर गयी हुई थी। उस घर की एक बहू ने जगरानी को बुला भेजा था। आयीं तो बहू दीन स्वर में बोली, —फूआ जी, जरा सगुन उचारिए कि मेरी गोद कब भरेगी ?—-जगरानी को जैसे करंट मार गया हो। कुछ बोलीं नहीं, जैसे कुछ सुना ही न हो।

'उचारिए न फूआ जी !—वह फिर दीन स्वर में घिघियायी।

'मुझे लग गया कि जगरानी के भीतर क्या चल रहा है। और बहू ऐसी उल्लू की पट्ठी कि बिना कुछ सोचे-समझे उनके घाव को कुरेदती जा रही है। मुझे लगा कि जगरानी इस प्रसंग को टाल जाना चाहती हैं किन्तु फिर पता नहीं क्या सोचा कि अपने सगुन का तामझाम फैला दिया। लग रहा था कि वे निश्चेष्ट भाव से कुछ कर रही हैं। और काफी देर बाद, पता नहीं क्या सोच-समझकर कहा—सगुन बता रहा है कि कुछ अच्छा होगा।

'ठीक-ठीक बताइए न फूआ जी !

'अरे, यह क्या ठीक-ठीक बताएगी। ऐसी ही बतानेवाली होती तो अपना नहीं बता देती ?

अपना के पवतीं त तीन गीत गवतीं।

'लोगों ने देखा कि पड़ोस की मशहूर खूसट बुढ़िया वहां उपस्थित होकर जहर उगल रही है। पता नहीं वह कब से छिपकर यह सब देख

रही थी।

'जगरानी तो वहां से आंधी की तरह उठीं और फफकती हुई चली गयी लेकिन हम सबने मिलकर बुढ़िया की अच्छी दुर्गति की। लेकिन वह बेशर्म हम सबसे लड़ती रही। जीवन-भर उसने यही तो किया है।

'कुछ दिन तक जगरानी सगुन-उचार से बचती रहीं लेकिन फिर पटरी पर आ गयीं। सगुन उचार उनकी जीविका के साधन के रूप में भी काम आने लगा। लोग सगुन उचार के बाद, जगरानी के लाख मना करने पर भी सीधा-पिसान दे देते थे। धीरे-धीरे जगरानी को लगने लगा कि स्वाभिमान से जीने के लिए यह भी जरूरी है।'

इस बार सातवें दिन जब मैं घर आया तो घर का एक अजीब नशा मेरे ऊपर तारी था। घर पहुंचा तो शाम हो गयी थी। गांव के बाहर ही फूआ मिल गयीं। लगता है, ये भी कहीं से आ रही थीं।

'फूआ, कहां से?'

'कस्बे गयी थी।'

'कस्बे गयी थीं?'

'हां रे।'

'बजार करने गयी थीं?'

'हां, बजार ही समझो।'

'लेकिन कुछ ले तो नहीं आयीं।'

'अब तुम वकील-बैरिस्टर की तरह जिरह करने लगे। सात दिन पर घर आये हो; जाओ, जल्दी जाओ, बहू राह देखती होगी।'

लगा फूआ मुझसे कुछ छिपा रही हैं। मैं चुपचाप उनके साथ चलने लगा।

'तू नाराज हो गया क्या रे?'

'क्यों नाराज हूंगा फूआ? हर आदमी की कुछ ऐसी बातें होती हैं जिन्हें वह दूसरों को बताना नहीं चाहता।'

'अब मेरी जिन्दगी में ऐसा क्या बचा है रे, जिसे छिपाऊंगी। मैं किसी और आदमी के काम से गयी थी।'

फिर वे भारी हो आयीं, 'कितनी तकलीफें हैं लोगों को। तरह-तरह की तकलीफें।' वे अपने-आप बुदबुदाती रहीं। फिर अपने-आप बोलीं, 'कस्बे में एक बाबा जी आये हुए हैं उनसे भभूत लेने गयी थी।'

'किसलिए?'

'संतान के लिए।'

'संतान के लिए?'

'हां, एक औरत को लड़का नहीं हो रहा है। वह छिप-छिपकर रोती है। उसकी सास और मरद दोनों उसे ताने मारते हैं। उसकी कोख को कोसते हैं। वह बेचारी मुझसे अपना हाल कहती है। उसने किसी से सुना, तो मुझसे चिरौरी की कि मैं बाबा जी से भभूत ले आऊं।'

'ले आयीं?'

'हां, ले आयी।'

'आप विश्वास करती हैं?'

'अरे, मेरे विश्वास करने न करने की बात नहीं है रे। लोग तो करते हैं। मैं सोचती हूं, शायद इसी तरह किसी का दुःख कुछ कम हो जाए। चली गयी, नहीं तो यह जाने का समय है? खलिहान में डांठ पड़े हुए हैं। दंवरी की चिंता समायी हुई है। बैलों का जोगाड़ हो नहीं रहा है। लेकिन यह सब तो चलता रहेगा रे।' वे गांव में आकर अपने घर की ओर मुड़ गयीं, और मैं अपने घर की ओर।

लगता है, फूआ अपने लिए नहीं रह गयी हैं। वे जैसे दूसरों के लिए जीती हैं। गांव में शादी-ब्याह किसी के घर हो फूआ वहां होंगी और गाते-गाते गला बैठा लेंगी। हर तीज-त्योहार के दिन फूआ का गीतस्वर सबसे आगे और ऊपर सुनाई पड़ेगा।

गांव की लड़कियों की अगुवाई करती हुई फूआ मेले चली जाएगी और सबको सहेजकर घर ले आएंगी। किसी के घर कोई बीमार पड़ गया या मर गया, उसका कोई नहीं है तो कोई चिंता की बात नहीं, फूआ तो हैं न। खाना बनाने से लेकर तीमारदारी करने तक सारा काम वे स्वयं अपने सिर पर उठा लेंगी। लगता है, गांव फूआमय हो गया है या फूआ गांवमय हो गयी हैं। गांव की खुशी भी उनकी, उसका गम भी उनका।

लेकिन क्या फूआ का गम कोई बांट पाता है ? मुझे लगता है. अपना गम वे किसी तक पहुंचने ही नहीं देतीं, अकेले में खुद पी लेती हैं चुपके-चुपके।

सोहन भइया किसी को लेकर इधर ही आ रहे हैं। साथ में शायद जगमोहन है। हां, वही तो है। सुना है, आजकल उसी के यहां इनका बैठना हो रहा है। हो सकता है, उसी को खेत बेचने वाले हों।

मेरी इच्छा हुई कि इन दोनों के आने से पहले ही उठकर चला जाऊं लेकिन वे दोनों खुद ही मुड़ गये।

फूआ जीवित थीं, तब भी इस सोहन के बच्चे ने उनका अपमान किया और मर गयीं तब भी उनका अपमान कर रहा है। मुझे तो लगता था कि फूआ का खेत और मेरा खेत दो नहीं, एक ही हैं। अपने खेत की फसलों की रखवाली करने के क्रम में मैं फूआ के कितने करीब आ गया था। फूआ मुझे अपने बेटे की तरह मानती थीं। और मां द्वारा फूआ के अतीत जीवन की सुनी हुई कहानियां मुझे लगातार फूआमय बनाती जा रही थीं।

मैं अक्सर फूआ को उनकी मां के साथ देखता था। लगता था कि वे मां-बेटी न होकर सहेलियां हैं। एक दिन जब मैं स्कूल से घर पहुंचा तो मालूम हुआ, मां घर पर नहीं हैं। मेरी छोटी बहन ने बताया कि फूआ की मां मर गयी हैं, मां वहीं गयीं हैं। मां ने तुम्हें-मुझे वहां जाने से मना किया है। लेकिन मैं भागा-भागा वहां गया। देखा, उनके घर के बाहर उनकी मां की लाश रखी हुई है, और फूआ उस पर भहराकर रो रही हैं, 'अरे माई, तू मुझे किसके सहारे छोड़ गयी रे! अब इस दुनिया में मेरा कौन है!···ससुराल से भागकर तेरे पास आयी, अब यहां से भागकर कहां जाऊंगी रे!' बड़ा दर्दनाक दृश्य था। सभी रो रहे थे। मैं भी पुक्का मार-कर रोने लगा।

और जब पहली बार फूआ को अकेले-अकेले खेत के कामधाम में जुटते हुए देखा तो बड़ा उदास-सा हो उठा। सहेली की तरह साथ-साथ चलने वाली मां कहां है ? फूआ के चेहरे को देखते हुए डर लगता है। एक अजीब उजाड़ रेगिस्तान उस चेहरे पर उग आया था। ससुराल से भागकर आने-वाली फूआ की उदासी मैंने नहीं देखी थी; मैंने तो फूआ को गाते-बजाते

और हंसते-मुस्कराते ही देखा था इसलिए मेरे लिए फूआ का यह चेहरा एकदम नया था जो मेरे भीतर अंटता ही नहीं था। उनसे बोलने की हिम्मत नहीं होती थी, उनसे दूर-दूर भागता था।

एक दिन वे अपने मक्के के खेत में वैठी थीं। मैं भी अपना खेत रखाने जा रहा था। उन्हें बैठा देख मैं ठिठककर खड़ा हो गया। वे अपने-आप में खोयी थीं। मैं उन्हें देखता रहा।

वादल छाये हुए थे। बरस नहीं रहे थे। हवा वंद थी। एक अजीब उमस वातावरण में धंसी हुई थी।

'फूआ, फूआ', मैंने धीरे-धीरे पुकारा। वे खोयी रहीं।

मैंने जरा और जोर से पुकारा।

उनकी समाधि टूटी, मुझे पास बुलाया। मैं धीरे-धीरे उनके पास गया।

'फूआ, अब तुम मुझसे बोलतीं क्यों नहीं? अब हंसतीं-गातीं क्यों नहीं ?'

फूआ चुप रहीं।

मैंने कहा, 'फूआ, तुम्हारा इस तरह चुप रहना मुझे अच्छा नहीं लगता। मुझे डर लगता है। मैं जानता हूं, तुम्हारी मां तुम्हारे साथ नहीं रहीं। इसीलिए न उदास हो ? लेकिन तुम्हारे साथ मैं जो हूं !'

फूआ के मौन का बांध टूट गया। उनका ठहरा हुआ चेहरा कंप-कंपाया और वे आंसुओं में फूट पड़ीं। उन्होंने झपटकर मुझे गोद में भर लिया। देर तक रोती रहीं। फिर आंसू पोंछ लिये। बोलीं—'नहीं, अब उदास नहीं रहूंगी मेरे बेटे ! फिर हंसूंगी, गाऊंगी। रो-रोकर तो मैं हार ही जाऊंगी और वे जीत जाएंगे। नहीं, मैं झूठ को जीतने नहीं दूंगी। तुमने मुझे जगा दिया बेटे।'

मैं सोच रहा था कि उनकी हार-जीत का क्या मतलब है तब तक वे गुनगुना पड़ीं। धीरे-धीरे उनके ओठों से एक गीत की कड़ी फूट पड़ी।

हवा का झोंका आया। उमस टूट पड़ी और बादलों में एक हलचल मच गयी। रिमझिम-रिमझिम पानी बरसने लगा। मैं बाहर से भीतर तक एक आर्द्रता से भर गया।

फूआ गा रही थीं। मुझे पता नहीं चल रहा था कि उनके गाने में उल्लास है या विषाद। लेकिन जो भी रहा हो, वह बहुत गहरा दर्द जगा

रहा था; जैसे वे हंसना चाहती हों लेकिन भीतर रो रही हों।

'फूआ, आओ चलते हैं अपने मचान पर। पानी तेज हो रहा है।'

और फूआ मेरे साथ मेरे मचान पर आ बैठीं। पानी तेज होता गया। एक गहरे कुहरे की तरह फैली बारिश में आसपास का सब कुछ डूब गया। हवा के ठंडे झोंके मेरे अधखुले शरीर को कंपा रहे थे। मेरे रोंगटे खड़े हो गए। लेकिन फूआ जैसे इसके स्पर्श में नहा रही थीं और विह्वल हो रही थीं जैसे उनके भीतर कोई आग हो, जिसे ठंडा कर रही हों।

वे गाये जा रही थीं :

रिमझिम रिमझिम बरसे पनिया
मोरे अंगनवा ए हरी…

और फूआ धीरे-धीरे फिर ठीक हो गयीं। फिर हंसने-गाने, समाज का काम करने का रास्ता पकड़ लिया। मां के क्रिया-कर्म में दो बीघे खेत फिर रेहन चढ़ गए।

सोहन भइया मेरे यहां आते रहते थे। मुझे इस बात पर बहुत आश्चर्य और गुस्सा आता था कि यह आदमी कभी फूआ से मिलने नहीं जाता। कभी एक पैसे की मदद नहीं करता। कभी नहीं पूछता कि जी रही है कि मर रही है। कभी-कभी जब वे मेरे घर आए होते और फूआ अनजाने ही मेरे यहां आ जातीं तो इन्हें देखकर घूंघट काढ़ लेतीं और घर के भीतर चली जातीं। मां से पूछतीं, 'ठीक-ठाक हैं न ये ?'

'हां, एकदम ठीक-ठाक हैं !' मां का उत्तर सुनकर जैसे उन्हें संतोष हो जाता।

इस बार भी सोहन भइया आए हुए थे। संयोग से फूआ आ गयीं और मां से वही सवाल पूछा। मां ने कहा, 'ठीक-ठाक तो हैं, जरा पैसे की बहुत तंगी में हैं। बंबई जाने की बात सोच रहे हैं।'

फूआ घर से निकल गयीं। थोड़ी देर बाद एक गठरी लेकर आयीं। बोलीं, 'इनसे कह दीजिएगा कि लेते जाएंगे।'

और सोहन भइया ने निस्संकोच भाव से गठरी उठा ली। मां विस्मित थीं, मैं भी चकित था।

और फिर ऐसा अक्सर होने लगा।

एक दिन मैं घर पहुंचा तो देखा, फूआ बैठी बड़बड़ा रही थीं, 'अच्छा हुआ। भगवान् करे, कभी उसकी कोख न फूले-फले! मुझे घर से निकलवाकर कुल का दिया जलाने आयी थी। अभागिनी, पिशाचिनी, भैंस! देखना भउजी, भगवान् कभी माफ नहीं करेगा इन राक्षसों को!'

मां ने समझाया, 'नहीं जगरानी, ऐसे नहीं कहते। आशीर्वाद दो कि घर का चिराग रोशन हो!'

'आशीर्वाद? मैं आशीर्वाद दूंगी भउजी, इन राक्षसों को? मैं तो सरापूंगी!'

कहते-कहते रो पड़ीं। देर तक रोती रहीं।

'मैं ही कुलच्छनी हूं भउजी, मैं करमजली हूं! न जाने क्या-क्या कह जाती हूं।'

मुझे पता नहीं चला कि फूआ का रोना अपनी असहायता का है कि प्रायश्चित्त का।

फूआ चली गयीं तो मैंने मां से पूछा। मां ने बताया कि सोहन भइया की दूसरी औरत को बच्चा होने वाला था। गरभ ठहरा नहीं।

अब फूआ के नाराज होने और रोने का अर्थ समझ में आया।

कई सालों में ऐसा प्रसंग कई बार आया।

एक दिन फूआ के घर पहुंचा, तो फूआ बहुत प्रसन्न दिखाई पड़ीं। उन्होंने एक पीली साड़ी पहन रखी थी और सोहर की एक कड़ी गुनगुना रही थीं:

आजु घर बाजे ला बधइया
उठन लागे सोहर हो···

मैं गया तो उन्होंने मेरे हाथ में गुड़ की एक डली देकर कहा, 'खाओ!'

'क्या बात है फूआ? आज सब कुछ बदला-बदला नजर आ रहा है। तुम भी खुश, तुम्हारा घर भी खुश, तुम्हारे कपड़े भी खुश! और यह गुड़?'

'कुछ नहीं, कुछ नहीं, खाओ। ऐसे ही, आज कुछ अच्छा पहनने का मन हो आया।'

वे फिर सोहर गुनगुनाने लगीं।

मैंने घर आकर मां से कहा, तो मां मुस्करायीं। बोलीं, 'आज उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ है।'

'उन्हें ?'

'हां, सोहन भइया को लड़का हुआ है।'

'अच्छा, अच्छा !'

थोड़ी देर बाद फूआ हमारे घर आ गयीं। मैंने कहा, 'वाह फूआ, मुझे तुम्हारी खुशी का राज मालूम हो गया !'

'क्या मालूम हो गया ? शैतान कहीं का !' वे गुस्से में बोलीं।

'अब बनो मत, मुझे मालूम हो गया कि तुम्हें बेटा प्राप्त हुआ है। इसीलिए इतनी खुश हो !'

'खुश ? मैं खुश हूंगी ? उस चुड़ैल को बेटा हुआ है, मैं खुश हूंगी ? मेरी छाती में आग जल रही है और तुम कहते हो मैं खुश हूं। भगवान भी कितना जालिम है कि उसने मेरी एक नहीं सुनी।'

वे गुस्से में बड़बड़ा रही थीं। मैं कुछ समझ नहीं पा रहा था लेकिन मां मुस्करा रही थीं।

'तुम मुस्करा रही हो भउजी ! जैसे मैं कोई नाटक कर रही हूं ?'

'नहीं, नहीं, मैं मुस्करा रही हूं इस लड़के की अकल पर कि तुम्हें समझ नहीं पा रहा है।'

कुछ समय एक गहरे मौन में बीता। फूआ के हाथ में एक पोटली थी जिसे मां बार-बार कनखियों से देख लेती थीं।

कुछ देर बाद फूआ शरमाई-सी बोलीं, 'भउजी।'

'क्या है ?'

'इसे जरा वहां भेज दीजिएगा !'

'कहां ?'

'वहीं।'

'अरे कहां वहीं ?'

'अरे वहीं भउजी, वहीं।'

'अरे वहीं कहां ?'

'देखो भउजी, बनो मत, तुम समझती हो कहां।'

कहकर फूआ ने पोटली मां के आगे फेंक दी और शरमाकर भाग गयीं।

मां हंसने लगीं फिर अचानक उनकी आंखों में आंसू छलक आए।

'क्या है मां?'

'बड़ी पगली है जगरानी।' मां ने आंसू पोंछते हुए कहा।

'इसमें क्या है मां?'

मां ने उसे खोलकर देखा, उसमें एक साड़ी थी, बच्चे के लिए एक छोटा-सा रंगीन कुरता था, एक तावीज थी, एक गरी का गोला था।

कुछ दिन बाद शहर से लौटा तो पाया कि एक विचित्र अफवाह गांव में फैल गयी है, 'जगरानी फूआ टोनहिन हैं।' सुनकर मैं मर्माहत रह गया। मां बहुत दुखी थी। मेरी पत्नी ने कहा, 'तुम तो उनकी बहुत तारीफ करते थे?' मैंने उसे डांट दिया। यह विषाक्त अफवाह किसने फैलायी है? क्यों फैलायी है?

सुना, गांव में कोई तांत्रिक आया था।

उसने बात-बात में घोषित किया कि इस गांव में कोई टोनहिन (चुड़ैल) रहती है; जबर्दस्त टोनहिन, जो घर-घर में घुसी रहती है। वह अपनी सौत की संतानप्राप्ति के लिए अभी-अभी एक गरीब औरत के बेटे को खा गयी है। वह बांझ है, इसलिए उसकी अशुभ छाया न जाने कितनी औरतों पर पड़ रही है। इत्यादि···

लोग चकित थे। सब आश्चर्य से सोचने लगे, यह कौन हो सकता है?

फिर तांत्रिक ने आविष्ट होकर कहा, 'वह इसी गांव की लड़की है।'

फिर भनभनाहट फैल गयी, यह तो जगरानी है, जगरानी है। भाई, यह तो बड़ी खतरनाक औरत निकली! हां, उसकी सौत को आये कितने साल हो गये, संतान नहीं हुई; अब जाकर हुई है। उसने इसके लिए एक गरीब आदमी के बच्चे की जान ली है। सभी बांझ औरतें अपने बांझ होने का कारण फूआ से जोड़ने लगीं।

हमें कई लोगों से प्रतिवाद करना पड़ा, लड़ाई करनी पड़ी लेकिन जो हवा बह गयी उसे रोकना इतना आसान है क्या?

फूआ मर्माहत रह गयीं। उनकी हंसी और गीत जैसे फिर छिन गये। उन्होंने गांव में निकलना बंद कर दिया।

मैं फूआ के पास गया और पूछा, 'फूआ, बात क्या है?'

'बात जो है, वह तो सुन ही रहे हो।'

'नहीं, मैं यह नहीं पूछ रहा। पूछ यह रहा हूं कि एकाएक यह सब कैसे हो गया? किसने प्रचार किया?'

'मुझे क्या मालूम?'

'नहीं फूआ, कुछ तो बता। किसी से कुछ तकरार हुई थी क्या? तू तो घर-घर की सांस पहचानती है, तू जरूर जानती होगी।'

'हां, जानती तो हूं, लेकिन छोड़ो, क्या फायदा?'

'नहीं फूआ, बता न...'

'जगमोहन।'

'क्या किया उसने?'

'उसका लड़का परदेश में रहता है और खुद अभागा रंडुआ है। एक दिन घर सूना था। वह अपनी बहू से जबरदस्ती करने लगा, वह अपने को छुड़ाने लगी। मैं अचानक पहुंच गयी। मैंने उसे डांटा—तू कितना कमीना है रे, कि अपनी बेटी के साथ कुकरम करना चाहता है। अरे अभागे, पतोह भी बेटी ही होती है।'

'वह गुर्राया—तू साली कुतिया, जब देखो तब सबके घर में घुसी ही रहती है। न काम, न काज, बस दिन-भर आवारागर्दी करती रहती है।'

'चुप रह कलमुंहे, भरी सभा में तेरा भंडा फोड़ूंगी। तू गांव का बड़ा आदमी बनता है न।

'वह गुर्राकर बाहर चला गया, मैं भला उसका भांड़ा क्या फोड़ती। उसकी बदनामी कम, बहू की ज्यादा होती।'

'और वह लड़का?'...

'अरे, वह उस गरीब जियावन का लड़का था। वह बीमार था। कुछ खाने-पीने को मिलता नहीं था। मां बीमार, बेटा बीमार। जियावन मिल में नौकरी करता है, सातवें दिन आता है। मैं बच्चे को झाड़-फूंककर मां को विश्वास दिलाती थी कि अच्छा हो जाएगा। बेचारी औरत का और सहारा

ही क्या था।'

'समझ गया फूआ। वह किराये का तांत्रिक लाया होगा। सोचा होगा, जब तक यह मेरे खिलाफ कुछ कहे, इसकी बदनामी करके इसकी साख कम कर देनी चाहिए। अब मैं उसकी कलई खोलता हूं न।'

'ना-ना बेटे, ऐसा न करना। परदेस से लौटने पर उसका बेटा यह सब सुनेगा, तो बहू को छोड़ देगा। वादा करो कि तुम किसी से कुछ नहीं कहोगे।'

मैंने मन मसोसकर इस बात का प्रचार न करने का वायदा किया लेकिन जब सोहन भइया आये और उन्होंने कहा, 'मैं यह क्या सुन रहा हूं? उसने यह सब क्या सीख लिया? वह इतना नीचे गिर गयी?' तो मैं गुस्से से लाल हो गया, 'आपको उनसे क्या वास्ता है? आपने कभी यह भी जानना चाहा कि वे मर रही हैं कि जी रही हैं? आप उनके पति हैं न? आपको धिक्कार है कि आपकी पत्नी अकेली जीवन से जूझती रही और अब इस तरह अपमानित हो रही है।'

वे चुप हो गये। मैंने कहा, 'पुरुष हैं तो अपमान करने वाले से बदला लीजिए। है हिम्मत? आते ही पूछ रहे हैं कि यह क्या सीख लिया? इतना नीचे गिर गयी? उनको नीचे गिराने में आपने कोई कसर बाकी नहीं रखी। यह तो फूआ थीं कि जवानी की आंधी में भी अपनी आबरू और हवस के आंचल को संभालती हुई चलती रहीं और धीरे-धीरे अपने को समाज से एक कर दिया। उसी समाज ने उन्हें अच्छा पुरस्कार दिया। है हिम्मत, लड़िएगा जगमोहन से? उसी ने एक किराये का तांत्रिक बुलाकर यह सब कुछ किया है।'

वे फिर चुप रहे। उठे, बोले, 'वहीं जा रहा हूं।'

'हां जाइए, शायद फूआ ने कुछ सीधा-पिसान जुटाकर रखा हो; लेते जाइएगा।'

इस बार फूआ की हंसी छिनी तो फिर वापस नहीं आयी। धीरे-धीरे गांव वालों का फूआ के प्रति विश्वास कुछ दूर तक वापस लौट आया था, और वे फिर उनकी चाह करने लगे थे किन्तु फूआ का टूटा हुआ मन फिर नहीं जुड़ा। उनके खेत भी उजड़ने लगे और गांव से मिलने वाली दान-

दक्षिणा लेना भी उन्होंने बन्द कर दिया। वे सूखती गयीं, सूखती गयीं।

इस बार मैं शहर से आया तो मां ने बताया कि फूआ का हाल अच्छा नहीं है। मैं गया तो फूआ दर्द से छटपटा रही थीं। उनके पास कोई नहीं था। उजड़ा हुआ मकान, बिखरे हुए कुछ गंदे सामान, टूटी चारपाई पर छटपटाती हुई फूआ।

'फूआ।'

उन्होंने आवाज पहचानकर मेरी ओर देखा।

'तू आ गया रे ! अब मैं जा रही हूं। मैं तेरी ही राह देख रही थी।' उनकी आंखों में कितनी ही टूटी उदास परछाइयां देखीं।

'अपने भइया से कहना कि तुम्हारे घर के पास वाला खेत तुम्हें दे दें। कह देना मैंने कहा है। सोचा था, सारे खेत तुम्हारे नाम कर दूंगी, लेकिन…'

मैं कुछ नहीं बोला। एक अहसास मुझे बुरी तरह मथने लगा, अभी भी फूआ को इतना विश्वास है कि सोहन भइया इनका कहा पूरा करेंगे ? जीवन कितना विचित्र होता है ! फूआ को जोर की हिचकी आयी और सिर एक ओर लुढ़क गया।

'फूआ,' मैं जोर से चीख पड़ा। कुछ देर तक अवाक् खड़ा रहा। फिर सूचना देने घर की ओर चल पड़ा। बाहर निकलकर देखा, चारों ओर अंधेरा। अंधेरे में खड़ा अकेला मकान, मकान में अकेला कमरा, अकेले कमरे में अकेला पड़ा फूआ का शव।

सोहन भइया फिर जगमोहन के साथ इधर ही आ रहे हैं। साथ में खेत नापने की जंजीर वगैरह भी है। लगता है, इन्होंने जगमोहन को खेत बेच दिया। सोहन और जगमोहन; क्या लय है दोनों के बीच !

मैं उठकर वहां से दूसरी ओर निकल गया। नहीं, मैं अपने सामने फूआ के खेत को जगमोहन के हाथ बिकता हुआ नहीं देख सकता। यह खेत खेत नहीं दिवंगत फूआ की आत्मा है।

मैं वहां से दूसरी दिशा को सरक गया। सामने अकेलेपन में खोया हुआ फूआ का सूना मकान दिखाई दे रहा था। □ □




K.P. SABHA AMLPHA
LIBRARY
No
Date
JAMMU

